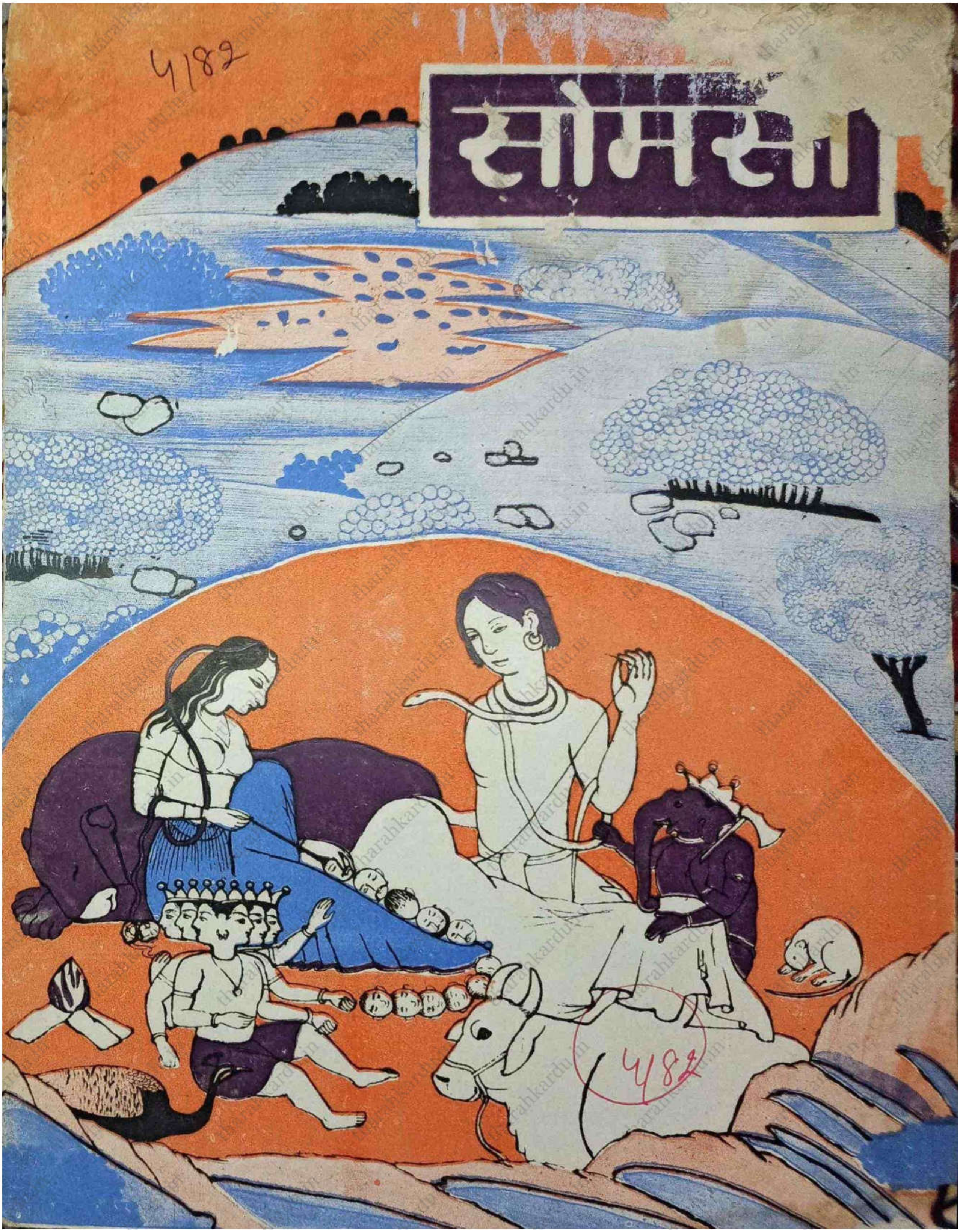

4182

कनखल में (भितिचित्र) गवर्धन धारण

कनखल (भितिचित्र) वारिष में कम्बल में छुपे
राधा कृष्ण
(श्री दिनेश अग्रवाल के लेख से सम्बन्धित)

सोमसी

हिमाचल कला संस्कृति और भाषा अकादमी का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष 8 अप्रैल, 1982 अंक 2

मुख्य सम्पादक :
शिव कुमार उपमन्यु

सम्पादक :
मौलू राम ठाकुर

सहयोगी :
सरोज सांख्यायन

आवरण :
ओम प्रकाश

३०

जनवरी, अप्रैल, जुलाई, तथा अक्तूबर में प्रकाश्य ।

लेखक के विचारों तथा दिए गए तथ्यों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं ।

वार्षिक चन्दा–12 रु०

एक प्रति–3 रु०

प्राप्ति स्थान :

हिमाचल कला संस्कृति और भाषा अकादमी,
पीच ब्लाज्म काटेज, शिमला - 171002

विषयानुक्रमणिका

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय		(i)
2.	वज्जालग्गम के अनुवादक : गुलेरी जी	–डॉ० मनोहर लाल	1
3.	कांगड़ा घाटी में एक रंगमंचीय साया : नोराह रिचर्ड्स	–श्री किशोरी लाल वैद्य	11
4.	मण्डियाली के अधिखण्डात्मक स्वनिम- (सुपरा-सेग्मैंटल फोनीमस)	डॉ० जगतपाल शर्मा	14
5.	कांगड़ा घाटी और चैत्र मास का गीत	–डॉ० गिरिधर 'योगेश्वर'	26
6.	गुरू रांग-रिग रेपा : संक्षिप्त जीवनी	–श्री तोबदन	30
7.	पहाड़ी शैली के भित्तिचित्र कनखल में	–डॉ० दिनेश चन्द्र अग्रवाल	33
8.	हिमाचल प्रदेश का प्रसिद्ध लोक गीत फुलमू और रांझू	–श्री शशिकान्त शास्त्री	37
9.	कांगड़ा के मेले और उनका महत्व	–श्री हरिकृष्ण मुरारी	41
10.	बाड़ी धार मेले की कथा	–श्री कृष्णसिंह कंवर	45
11.	पहाड़ी गीतों में विविध रस	–श्री प्रेमलाल गौतम	49
12.	गद्यार क्षेत्र में कार्तिकेय पूजन	–श्री अमरसिंह रणपतिया	56
13.	बाबा बाजी साहिब : पंजबड़ वाले एक परिचय	–डॉ० प्रत्यूष गुलेरी	60
14.	चम्बा के संस्कार गीत	—श्री तेजराम पूंगा 'तिलक'	64
15.	निरमण्ड का भुण्डा महायज्ञ–१९८१	–श्री खेमराज गुप्त	80
16.	शोध प्रबन्ध सार	–श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री	86
17.	शोध प्रबन्ध सार	डॉ० गंगादत शास्त्री	93

सम्पादकीय

हमारे प्राचीन साहित्य में नृत्य कला के आरम्भ के बारे में बड़ा रोचकवृतान्त आता है। नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि का कहना है कि एक बार सभी देवता इन्द्र को अपना प्रतिनिधि बना कर ब्रह्मा के पास गए और अनुरोध किया कि वे देवताओं के मनोरंजन के लिए एक ऐसा खेल दें जो देखा भी जा सके और सुना भी जा सके, तथा जो समाज के सभी वर्गों के लिए उपलब्ध हो क्योंकि तब शूद्र को वेद पढ़ने की आज्ञा नहीं थी। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया और उन्होंने चार वेदों से प्रमुख विधान लेकर एक पांचवें वेद की रचना की जिसे नाट्यवेद कहा गया। इसकी रचना के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से गेयात्मक सामग्री पाठय (संवाद), सामवेद से गीत (संगीत), यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद के शृंगारादि रसों का संग्रह किया और देवताओं को नाट्य, नृत्य और संगीत की कला वरदान की।

ब्रह्मा ने यह कला सबसे पहले इन्द्र को दी और इन्द्र से इसे अन्य देवताओं को सिखाने का अनुरोध किया। परन्तु इन्द्र ने निवेदन किया कि देवता लोग इस कला का प्रतिपादन नहीं कर सकते क्योंकि इसके प्रदर्शन के लिए उनके पास समय नहीं है। इसे मनुष्यों के लिए ऋषि मुनियों को देना चाहिए। इस पर ब्रह्मा ने नाट्यवेद भरत मुनि को दिया। भरत ने अपने सौ पुत्रों (शिष्यों) को इसका प्रशिक्षण दिलाया। परन्तु भरत के पास नाट्य और नृत्य के कोमल, सुकुमार और मार्मिक अभिनय को प्रदर्शित करने के लिए पुरुष पात्र अधिक निपुण नहीं थे, अतः भरत के अनुरोध पर ब्रह्मा ने स्वयं अप्सराओं का प्रबन्ध किया। अन्ततः नाट्य एवं नृत्य कला का पहला प्रदर्शन इन्द्र की असुरों पर विजय के उपलक्ष्य में आयोजित समारोह पर किया गया।

एक अन्य धारणा के अनुसार नृत्य का सीधा सम्बन्ध शिवजी से जोड़ा जाता है। शिवजी का नटराज कहा जाता है। शिवजी में आर्यपूर्व हिन्दू संस्कृति की अनेक परम्पराएं समाहित हैं। देवताओं में वे महादेव हैं। सृष्टिसंहारक के रूप में वे रुद्र हैं। शक्ति के वे मूलाधार हैं। पशुओं के वे पशुपति हैं। इनके अतिरिक्त वे नृत्य एवं नर्तकों के स्वामी भी हैं। ताण्डव और लास्य इनके दो प्रमुख नृत्य हैं। नन्दिकेश्वर के उपपुराण 'अभिनय दर्पण' के अनुसार जब भरत ने पहली बार ब्रह्मा से नाट्यवेद प्राप्त किया तो उन्होंने शिवजी के सामने अपने गण गन्धर्वों और अप्सराओं के माध्यम से नृत (जिसमें अंग व्यापार मात्र हो), नृत्य (जिसमें भाव भी दर्शाए जाएं) और नाट्य (इन दो के साथ गाया भी जाया) प्रस्तुत किए। इस रचना को देखकर शिवजी को अपनी उत्कृष्ट नृत्यकला स्मरण आई। उन्होंने अपने शिष्य ताण्डुव से भरत और गन्धर्वों को ताण्डव नृत्य सिखाया और अपनी अर्द्धांगिनी पार्वती से उन्हें लास्य नृत्य सिखाया जो वाद्य और गीतों के संयोग में मूलतः महिला नृत्य कहलाता है। पार्वती ने आरम्भ में लास्य नृत्य बाणासुर की पुत्री और अनिरुद्ध (जो कृष्ण के पोते थे) की सहचरी उषा को सिखाया। उषा ने तत्पश्चात द्वारिका की गोपियों को

यह शिक्षा दिलाई और उन्होंने इस कला का प्रसार स्वराष्ट्र की स्त्रियों में किया जहां से यह नृत्य-कला भारत के अन्य प्रदेशों में फैली इस दृष्टि से शिव का ताण्डव नृत्य का और पार्वती को लास्य नृत्य का प्रवर्तक माना जाता है। शिव के उद्धत नृत्य को देखकर पार्वती हर्षोतफुल्ल हुई और वे नारी सुलभ सुकुमार नृत्य करने लगी। इसी का पार्वती ने उषा को प्रशिक्षण दिया। वस्तुतः नृत्य और नृत दोनों मधुर या सुकुमार होने पर लास्य तथा उद्धत होने पर ताण्डव हो जाते हैं।

नृत्य को प्रणय, युद्ध, धर्म और कला का शाश्वत नाटक माना जाता है और भारत में चाहे यह धार्मिक या कलात्मक रूप में संचालित है, पारम्पारिक रूप से यह शिव की मूल क्रियाओं से सम्बन्धित है। शिवकी प्रत्येक क्रिया कलात्मक है और हर कला में क्रियात्मक शक्ति है। इस प्रकार शिव न केवल प्रणय, युद्ध, धर्म और कला से सम्बन्धित ताल, लय और रस से युक्त ताण्डव और लास्य दो प्रधान नृत्यों के संचालक हैं, अपितु नृत्य में सत्व, रज और तम तीन गुणो का समाहार भी विद्यमान है। इसके लास्य नृत्य में सात्विक गुणों का प्रतिपादन है। इनका ताण्डव नृत्य तामस वृति प्रदर्शित करता है तथा नटराज के रूप में अनेक अन्य नृत्यों से वे रजोगुण प्रतिपादित करते हैं। नृत्यमूर्ति के रूप में शिव ब्रह्माण्ड में शाश्वत और सनातन शक्ति का स्वामी तथा प्रदायक है।

नृत्य स्वामी शिव इस सतत-शक्ति को अपनी मूलभूत पांच क्रियाओं अर्थात् सृष्टि, शिति (स्थिति), संहार, तिरोभाव (माया) और अनुग्रह (मुक्ति) को सर्वदा अपने में सन्निहित रखते हैं तथा अभिव्यक्त करते हैं। इन्हें पंचकृतियां कहा गया है। यह पांचों क्रियाएं पाँच प्रमुख देवी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह पांच शक्तियां ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव हैं। शिव के अपने शरीर के अंग इन पाँच मूलभूत शक्तियों के द्योतक हैं। नटराज शिव तीन हाथ सर्जन (सृष्टि), पालनपोषण (स्थिति संरक्षक) तथा विनाश (संहार) के प्रतिरूप हैं। अपस्मार दानव पर रखा एक पैर विस्मृति, स्मरण शक्ति-हीनता और माया तथा दूसरा ऊपर को उठाया हुआ पैर प्रचण्डता और व्यग्रता अर्थात् अनुग्रह के सूचक हैं। सृष्टि, सम्भरण, संहार, माया और मुक्ति हिन्दु-दर्शन के मूलाधार हैं, तथा शिव का ताण्डव नृत्य इन साँसारिक क्रियाओं का चित्रण प्रस्तुत करता है। यह पांचो गुण उनकी एक ही अराधना में पूर्ण होते हैं 'नमः शिवाय'। इस मन्त्र के पांचों अक्षरों अर्थात् न, मः शि, वा और य में शिव की पांचो शक्तियां निहित हैं और 'ॐ' के संयोग से त्रिभंग के तीन गुणों चिन्तन, मनन और स्मरण का समावेश होता है। वे संसार में सत्यं, शिव-सुन्दरं, आनन्द-मंगल-शांति की स्थापना के लिए अवगुणों का संहार करके माया से मुक्ति दिलाता है।

शिव आर्यकाल से पहले के देवता माने जाते हैं। और इस प्रकार जहां शिव ने आर्य और अनार्य संस्कृति और सभ्यता को एक सूत्र में संजोने का अत्यन्त परोपकारी और विकासोन्मुखी कार्य किया है, वहां शिव ने नटराज के रूप में मानव समाज की नृत्य, नाट्य, संगीत की वह कला भी प्रदान की है जिसके द्वारा मनुष्य ने सौन्दर्य और कुरुपता, सत्य और मिथ्य, शुभ और अशुभ तथा शाश्वता और नश्वरता में भी भेद आरोपित करके मनुष्य समाज की गतिशीलता को प्रोत्साहित किया है।

हिमालय शिव की पारम्परिक क्रीड़ास्थली और आवास-भूमि है। इसमें भी हिमाचल प्रदेश शिव का मूल स्थान है। कुल्लू जिला में बाह्य सिराज और आन्तरिक सिराज का क्षेत्र मूलरूप में शिवराज अर्थात् शिव राज्य है। शिव सिराज और इसके संलग्न क्षेत्र में राज्य करते थे। यहीं किन्नर कैलास उनका निवास स्थान है जो किन्नौर जिला के मुख्यालय कलपा के सामने उच्च पर्वत शिखा पर स्थित है। उसके साथ ही खसकर पर्वत शिखा है। दोनों के बीच शिव का मन्दिर बताया जाता है। अनुश्रुति है कि आज भी यहां शिव नृत्य करते हैं। इसीलिए यह पर्वत शिखा दिन में तीन बार रंग बदलती है प्रातः श्वेत, दोपहर को लाल और सायं हरा। विशेष अवसर पर शिव का संगीत दूर-दूर तक सुनाई देता है। सिराज के सामने सतलुज नदी की दूसरी ओर का क्षेत्र महाशिव के नाम से महासू कहलाता है। स्पष्ट है कि हिन्दुओं के त्रिदेवों में शिव का पहला और प्रमुख स्थान रहा है और जिस तरह सिराज, महासू और मण्डी क्षेत्र में शिवरात्रि का पर्व देश के अन्य भागों से नितान्त भिन्न रूप में मनाया जाता है और उस समय जिस प्रकार के संगीत, नृत्य और नाट्य की प्रथा है उनमें शिव के अनेक नृत्यों एवं नाट्यों की परम्परा को ढूंढा जा सकता है।

यही नहीं चम्बा में गद्दियों का भरमौर क्षेत्र शिव भूमि के नाम से प्रसिद्ध है। भरमौर से ऊपर मणिमहेश पर्वत शिखर तथा भरमौर में मणिमहेश मन्दिर शिव-पूजा के विशिष्ट स्थान हैं। इसी क्षेत्र में नवाला (नुआला) का पर्व शिव-उपासना का विशिष्ट उदाहरण है। महासू क्षेत्र की शिवरात्रि और गद्दी क्षेत्र के नवाला दोनों में शिव को बकरे या भेड़ की बलि दी जाती है। शिव आमिष-भोजी देवता हैं। महासू क्षेत्र के एक लोक गीत में कहा गया है कि हे शिव; तुम क्या खाओगे भेड़ का मांस या आंतों के कुण्डल—

ईशरा महादेवा का खाणो तेरे
खाडू री ड़लकी, आंजों रे फेरे।

जिस भूमि के साथ शिव का इतना निकट, गहरा और पारम्परिक सम्बन्ध रहा हो, उसे नाट्यों और नृत्यों की जननी कहा जाए तो क्या अतिश्योक्ति है। नटराज शिव की इस क्रीड़ा-स्थली और तपोभूमि का अंग-अंग नाचता है। उसके उपासक अपनी कलामयी अनुभूतियों तथा स्वच्छन्द और सम्मोहक वृत्तियों के कारण न केवल शिव की नाट्य एवं नृत्य कला को सुरक्षित रखे हुए हैं, वरन् इसे उन्होंने अलौकिक सत्ता प्रदान की है। परन्तु आज भौतिकवाद के थपेड़ों और विज्ञान के चमत्कारों के प्रभाव से यह शाश्वत सता डगमगा रही है। अब इसके लुप्त होने का डर है।

—एम० आर० ठाकुर

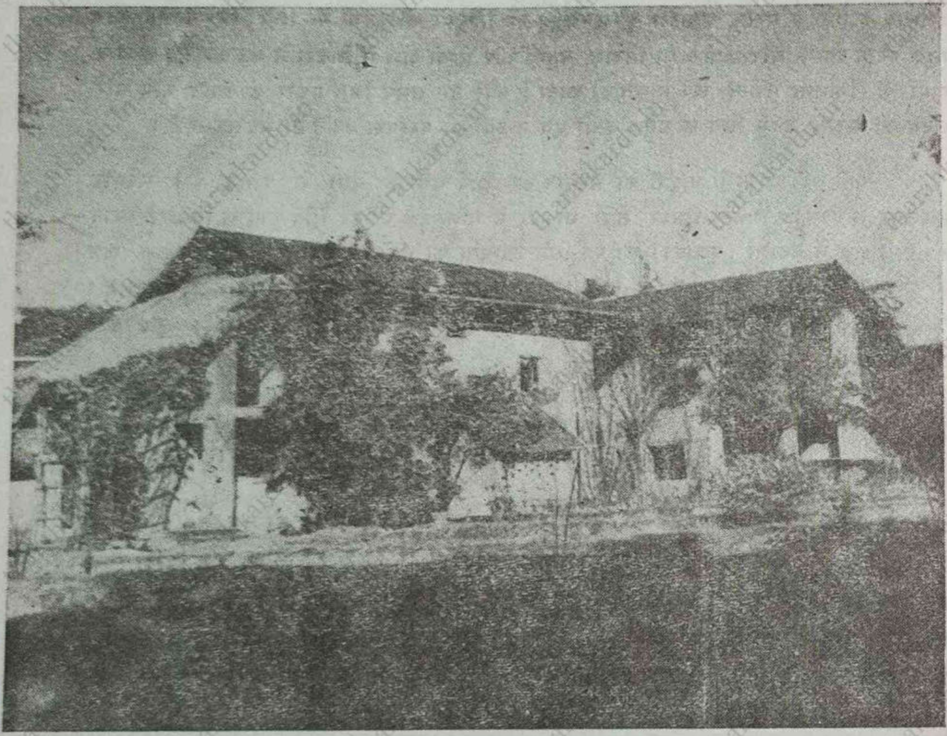

नोराह रिचर्ड्स की आवास स्थली वुडलैण्डस (पार्कर एस्टेट अन्द्रेटा) का एक पुराना दृश्य
(श्री के० एल० वैद्य के लेख से सम्बन्धित)

वज्जालग्गम् के अनुवादक : गुलेरी जी

-डॉ० मनोहर लाल

गुलेरी जी के समग्र कृतित्व का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे सफल अनुवादक भी थे। उनका अनुवाद कार्य कविता से कविता तथा कविता से गद्य दोनों में उपलब्ध है। उन्होंने राबर्ट बर्न्स की अंग्रेजी कविता 'बेनाक बर्न' का सफल काव्यानुवाद ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली में तथा महभारत एवं बाल्मीकि रामायण के कतिपय काव्यांशों का अंग्रेजी गद्य में किया था। गुलेरी ग्रंथ (पहला खण्ड, पहला भाग) में संकलित "शुनःशेप की कहानी, पुराने राजाओं की गाथाएं, वाजपेय, तथा राजसूय," प्रभृति निवन्धों में संस्कृत श्लोकों तथा मन्त्रों का यथास्थान पद्य अथवा गद्य में अनुवाद किया है। इस प्रवृति का सुष्ठु निर्वाह करते हुए उन्हें श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ के 'वज्जालग्गम्' के सुभाषितों ने आकर्षित किया था। उन्होंने इसके 35 सुभाषितों का आर्य या 'गीति छन्द में अनुवाद करके दिसम्बर १९१९ ई० की सरस्वती' में छपवाया था।

जयवल्लभ ने यह संग्रह संस्कृत न जानने वाले जनसाधारण के लिए तैयार किया था और शायद गुलेरी जी ने प्राकृत भी न जानने वालों के लिए। 'वज्जालग्गम्' कवि की मौलिक रचना न होकर भिन्न-भिन्न कवियो के काव्यांशों का सुव्यवस्थित तथा सम्पादित संग्रह है। वज्जालग्गम् का संग्रह 'गाथा सप्तशती' की शैली में किया गया है। अन्तर मात्र इतना ही है, कि जहां गाथा सप्तशती' में विषयनुकूल वर्गीकरण नहीं है, वहां 'वज्जालग्गम्' में इस पद्धति का निर्वाह है। 'वज्जालग्गम्' तथा 'गाथा सप्तशी' में संगृहीत कुछ काव्यांश एक से भी हैं।[1]

'वज्जालग्गम्' से 'अनूदित' सुभाषितों की रचना–प्रक्रिया के विषय में गुलेरी जी ने लिखा है — श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ ने 'वज्जालग्गम्' नामक एक बहुत बड़ा सुभाषित संग्रह रचा है। उसमें 'बहु–कवियों की रचिता गाथाओं में से भली-भली चुनकर' इकठ्ठी की हैं। कवि का यह दावा है कि :–

शृंगार युत, रसीली, कामिनी मन-भाविनी, मिठास भरी।
प्राकृत कविता रहते संस्कृत को कौन है पढ़ता।

---

1. वज्जालग्गम् : भूमिका : XII, XV, प्राकृत टैक्सट सोसाइटी अहमदाबाद–९ सं० १९६९ ई०

गुलेरी जी ने इसके बाद लिखा है :—

मैं उन गाथाओं का मिलते हुए आर्या या गीति छन्दों में अनुवाद कर रहा हूं। मेरे पास एक हस्तलिखित प्रति थी। अनुवाद जहां तक बन पड़ा मूल प्राकृत से किया है। भाषा, भाव, श्लेष आदि को निभाने का यत्न किया गया है। एक जर्मन विद्वान का सम्पादन किया हुआ मूल, संस्कृत छाया सहित 'बिब्लोथिका इंडिका' में भी छपने लगा है। उसकी संस्कृत छाया दोष रहित नहीं है। आज इसी 'वज्जालग्गम्' की कुछ गाथाओं के नमूने 'सरस्वती' के पाठकों को भेंट किए जाते हैं। कहीं-२ टिप्पणी भी दिए देता हूं।

अब मैं गुलेरी जी का इस विज्ञप्ति के परिप्रेक्ष्य में उन द्वारा अनूदित 35 सुभाषितों को यहां मूल प्राकृत तथा संस्कृत सहित प्रस्तुत कर रहा हूं जिससे पाठक गुलेरी जी के काव्य-कौशल का रसास्वादन कर सकें और जान सकें कि गुलेरी जी ब्रजभाषा ही नहीं, खड़ी बोली में कविता लिखने में भी कितने सिद्धहस्त थे। उन्होंने कई जगह हिमाचली पहाड़ी के शब्दों को संस्कृत और प्राकृत के तौल पर अपने अनुवाद में बड़े सटीक रूप में जड़ दिया है। भाषा में लक्षणा के साथ व्यंजन शब्द शक्ति को भी खूब निभाया है। इस प्रस्तुति से गुलेरी जी के काव्य-कौशल की तुलनात्मक अध्ययन करने में सुविधा रहेगी।

(1)

बज्जालग्गम् : **मुत्ताहलं व कव्वं सहावविमलं सुवण्णसंघडियं।**
सोयारकण्णकुहरम्भि पयडियं पाडयं होई।

संस्कृत : **मुक्ताफलमिव काव्यं स्वभाव विमलं सुवर्णसंघटितम्।**
श्रोतृकर्ण कुहरे प्रपतितं (प्रकटितं) प्रकटं भवति :

गुलेरी जी : मोती जैसी कविता, स्वभाव विमला, सुवर्ण जटिता, तब खिलती है जब पड़ती श्रोता के कर्ण छिद्रों में।

(2)

बज्जा० **सालंकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नशयरसियाहि।**
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जई चित्तं अइंतीहि।

संस्कृत : **सालंकाराभिः सलक्षणाभिरन्यान्नरागरसिता (का) भिः।**
गाथाभिः प्रणयिनीमिश्च खिद्यते चितमनागचछन्तीभिः।

गुलेरी जी : आपस में राग-भरी, सालंकारा, सलक्षणा, रसिका।
क्या गाथा क्या रमणी, दुःख देती है न आने से।
(टिप्पणी : गाथा-आना=स्मरण होना। दूसरे पक्ष में आना=पास आना)

(3)

बज्जा० **गाहे भज्जिहिसि तुमं अहवा लहुयतणं वि पाविहिसी।**
गामारदंतदिढकाढिणपीणियो उच्छुलट्टिव्व।

---

1. सरस्वती : पृ० 20, संख्या : 6, भाग : 20, दिसम्बर, 1919 सम्पा : महावीर प्रसाद द्विवेदी।

संस्कृत : गाथेभङ्क्ष्यसे त्वमथवा लघुत्वमपि प्राप्स्यसि।
ग्रामीणदन्त दृढकठिनपीडिता इक्षुयष्टिरिव।

गुलेरी जी : सांठे की-सी पोरी, कुचली निर्दय गंवार दातों से।
गाथा ! तू टुटेगी, या लघुता बिवस पावेगी।

(4)

वज्जा० गाहाणं गीयाणं तंतीसद्दाण पौढमहिलाणं।
ताणं चिय सो दंडो जं ताण रसं न याणंति।

संस्कृत : गाथानां गीतानां तन्त्रीशब्दानां प्रौढ़महिलानाम्।
तेषामेव स दण्डो ये तेषाँ रसं न याणन्ति।

गुलेरी जी : गाथा का, गीतों का, वीणा-ध्वनि का, सरस महिला का।
जो लोग रस न जानें, दण्ड उन्हीं को वही समझो।

(5)

वज्जा० : चिंतामंदरमंथाणमंथिए वित्थरम्भि अत्थाहे।
उप्पज्जंति कईहियबसायरे कव्वरयणाइं।

संस्कृत : चिन्तामन्दरमन्थानमथिते विस्तृतेऽस्ताधे।
उत्पद्यन्ते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि।

गुलेरी जी : मन्दर-गिरि-सम चिन्ता की मथनी से, अथाह, सागर सा।
कवि-मन विपुल मथित हो, उपजाता काव्य-रत्नों को।

(6)

वज्जा० : सद्दावसद्दभीरू पए पए किं पि किं पि चिंतंतो।
दुक्खेहि कह वि पावइ चोरो अत्थं कई कव्वं।

संस्कृत : शब्दापशब्दभीरूः पदे पदे किमपि किमपि चिन्तयन्।
दुःखैः कथमपि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कवि काव्यम्।

गुलेरी जी : अपशब्द शब्द पै डर, पद पद पर होय कुछ न कुछ चिन्तित।
कष्टों से कवि पावे कविता को, अर्थ को तस्कर।

(7)

वज्जा० सो सोहइ दूसंतो कईयणरइयाइ विविहकव्वाइं।
जो भजिऊण अवयं अन्नपयं सुंदरं देइ।

संस्कृत : न शोभते दुषयन् कविजनरचितानि विविध काव्यानि।
यो भङ्क्त्वा अपदम् अन्यपदं सुन्दरं ददाति।

गुलेरी जी : भाता दोष दिखाना, कवि रचना में उसी सुजन का है।
जो काट कुपद को झट, सुन्दर पद दूसरा धर दे।

(8)

वज्जा० : रे रे कलिकालमहागइंद गलगज्जियस्स को कालो।
अज्जवि सुपुरिसकेसरिकिसोरचलणंकिया पुहवी।

संस्कृत : रे रे कलिकाल महागजेन्द्र गलगर्जितस्य कः कालः।
अद्यापि सुपुरुषकेसरिकिशोरचरणंकिता पृथ्वी वर्तते।

गुलेरी जी : यह कौन काल गर्जन का ? है कलिकाल, मत गजराज।
गज्जन-सिंह-पदों की, पृथ्वी पर है अभी लगी छापें।

(9)

वज्जा० : परविवरलक्खलक्खे चित्तलए भीसणे जमलजीहे।
वंकपरिसक्किरे गोणसे व्व पिसुणे सुहं कत्तो।

संस्कृत : परविवरलब्धलक्ष्ये चलचित्ते (चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे।
वक्रगमनशीले गोनस इव पशुने सुखं कुतः।

गुलेरी जी : पर छिद्र लक्ष खरवे, चितकबरा, घोर दो जीभ वाला।
टेढ़ी चाल चलै उस खल से या सर्प से कहां सुख हो।
(टिप्पणी : चितकबरे रंग का (दूसरे पक्ष में) चितकपटा)

(10)

वज्जा० : अप्पहियं कायव्वं जई सक्कइ पर हियं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं।

संस्कृत : आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यते परहितं च कर्तव्यम्।
आत्महित परहितयोरात्महितं चैव कर्तव्यम्।

गुलेरी जी : कुल से शील भला है, दारिद है रोग से भला, विद्या।
राजपद से भली है क्षमा भली है तपस्या से।

(11)

वज्जा० : अच्छउ ता इयरजणो अगेंच्चिय जाइ पंच भूयाइं।
ताहं चिय लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरतेष।

संस्कृत : आस्तां तावदितरजनोऽङ्ग एव यानि पंच भूतानि।
तेभ्य एवं लज्जयते प्रारब्धं परिहरता।

गुलेरी जी : औरों की रहने दो, जो पांच भूत अपने तन में हैं।
काम किया तज देवें तो उनसे भी लजाते हैं।

(12)

वज्जा० : **ता तुंगो मेरुगिरि मयरहरो ताव होइ दुतारो।**
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जंति।

संस्कृत : **तावत्तुंगो मेरुगिरिमकरालयस्तावद्भवति दुस्तरः।**
तावद्विषमा कार्यगतियविन्न धीरा प्रपद्यन्ते।

गुलेरी जी : मेरू तभी तक ऊंचा, जलनिधि दुस्तर गिना तभी तक है।
कार्य-गति कठिन तभी तक, धीर भी तक न हथियाते।

(13)

वज्जा० : **मेरू तिणं व सग्गो घरंगणं हत्थछित्तं गयणयलं।**
वाहलिया य समुद्दा साहसवंताण पुरिसाणं।

संस्कृत : **मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहांगणंह्स्तस्पृष्टं गगनतलम्।**
क्षुद्रनद्यः समुद्राः साहसवतां पुरूषाणाम्।

गुलेरी जी : तृण-सा मेरू, गगन-तल हाथ छुआसा, उदधि क्षुद्र-नदी।
घर के आंगन जैसा स्वंग, सदा साहसी जन को।

(14)

वज्जा० : **धीरेण समं समसीसियाइ रे दिव्व आरुहंतस्स।**
होहिइ किं पि क्लंकं धुव्वंतं जं न फिट्टहिइ।

संस्कृत : **धीरेण समं समशीर्षिकायाँ रे देवारोहतः।**
भविष्यति कोऽपि क्लंको धाव्यमानो यो न यास्यति।

गुलेरी जी : रे दैव ! धीर के संग, होड़ाहोड़ी जमायगा जो तू।
ऐसा क्लंक होगा, जो धोय से ना जावेगा।

(15)

वज्जा० : **जं जं डालं लंबइ हत्थे गहिऊण वीसमइ जत्थ।**
सा सा तडनि तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुते।

संस्कृत : **यां यां शाखां लम्बते हस्ते गृहीत्वा विश्राम्यति यस्याम्।**
सा सा तटदिति त्रयुटयति नरस्य दैवे पराभूते।

गुलेरी जी : जौ जौ शाखा पकड़े, जिस जिसका हाथ घरसहारा लै।
वह चट करती टूटे, यदि होवे दैव प्रतिकूल।

(16)

वज्जा० : वेण्णि वि महाणारमे पेच्छह जं पुव्वकम्मपरिणामो ।
उप्पज्जइ हरह विसं कण्हस्स घणत्थणा लच्छी ।

संस्कृत : द्वे अपि मथनारम्मे प्रेक्षध्वं यत् पूर्वकर्मपरिणामः ।
उत्पद्यते हरस्य विषं कृष्णस्य घनस्तनी लक्ष्मीः ।

गुलेरी जी : परिणाम पूर्व-कर्मों का, यह देखो पूर्व समुद्र मंथन में ।
हर के हित विष उपजा, स्तन-भर-लचकी रमा हरि के ।

(17)

वज्जा० : किसिणिज्जंति लयंता उयहिजलं जलहरा पयत्तेण ।
धवलिहुंति हु देंता देंतलयंततरं पेच्छ ।

संस्कृत : कृष्णीभवन्ति गृहन्त उदधिजलं जलधराः प्रयत्नेन ।
धवली भवन्ति खलु ददतो दद्गृह्वदन्तरं प्रक्षेस्व ।

गुलेरी जी : लेते समुद्र-जल यत्नों से मेघ श्याम हो जाते ।
बरसाने पर धौले, लेते देते निरख यह भेद ।
(टिप्पणी : धौले-श्वेत (दूसरे पक्ष में) निर्मल)

(18)

वज्जा० : जे मग्गा विहवसमीरणेण वंकं ठवंति पयमग्गं ।
ते नूणं दालिद्दोसहेण जइ पंजलिज्जंति ।

संस्कृत : ये भग्ना विभवसमीरणेन वक्रं स्थापयन्ति पदमार्गम् ।
ते नूनं दारिद्रयौषधेन यदि प्राञ्जली क्रियन्ते ।

गुलेरी जी : धन वायु के झकोरों के मारे चाल जो चलें टेढ़ी ।
यदि सीधे वे हों तो होते दारिद-दवाई से ।

(19)

वज्जा० : संकुयइ संकुयते वियसई वियसंतयम्भि सूरम्मि ।
सिसिरे रौरकुडुंवं पंकयलीलं समुव्वहइ ।

संस्कृत : संकुचति संकुचति विकसति विकसति सूर्ये ।
शिशरे दरिद्रकुटुम्बं पंकजलीलां समुदहति ।

गुलेरी जी : सूर्य खिले पर खिलता, सिमटे रवि तो सिकुड़ सा जाता ।
दीन-कुटम्ब विचारा, जाड़े में कमल हो -रहता ।

(20)

वज्जा० : जम्मदिणे थणणिवडणमएण दिज्जंति धाइउच्छंगे ।
पहुणो जंनीयरया मन्ने तं खीरमहाप्पं ।

संस्कृत : जन्मदिने स्तननिपतनभयेन दीयन्ते धात्र्युत्संगे।
प्रभवोयन्नीचरता मन्ये तत्क्षीरमा हात्म्यम्।

गुलेरी जी : ढलकें स्तन, इस मय से जनमे धाय को दिये जावें।
हे प्रभु नीचे प्रेमी होवें, यह दूध की गिनो महिमा।

(21)

वज्जा० : ओलग्गिओ सि धम्ममिम होज्ज एण्हिं नरिंद वच्चामो।
आलिहियकुंजरस्स व तुह पहु दाणं चिय न दिट्ठं।

संस्कृत : अवलग्नोऽसि धर्मे भूया इदानीं नरेन्द्र व्रजामः।
आलिखित कुंजरस्येव तम प्रभो दानमेव न दृष्टम्।

गुलेरी जी : विरस हुए हो राजन्! अब जावें, आप धर्म में रहना।
चित्र लिखे हाथी-सा दान कभी आपका नहीं देखा।

टिप्पणी : धर्म में रहना = जाते समय का आर्शीवाद जैसे प्रसन्न रहना। दान देना 'दूसरे पक्ष में' मद

(22)

वज्जा० : आसन्नफलो फणसो व्व नाह सयलस्स सेवयजणस्स।
अम्हं पुण पत्थिव पत्थिओ वि तालो तुमं जाओ।

संस्कृत : आसन्नफलो पनस इव नाथ सकलस्य सेवक जनस्य।
अस्माकं पुनः पार्थिव प्रार्थितोऽपि तालस्त्वं जातः।

गुलेरी जी : और सब सेवकों के, बटहल से नाथ! पास-फल-वाले।
पार्थिव हमने मांगा, तो भी तरु-ताल से रहे आप।

(23)

वज्जा० : एक्कं दंतम्मियँ पयँ बीयँ कुंभम्मि तइयमलहंतो।
बलिबंधविलसियँ महुमहस्स आलँबए सुहडो।

संस्कृत : एकं दन्ते पदँ द्वितीयँ कुम्भे तृतीयमलभमानः।
बलिबन्धसितँ मधुमथनस्यालम्बते सुभटः।

गुलेरी जी : दे पांव दान्त पै, रख दूजा सिर पै, धरे कहां तीजा?
यों गज पर भट चढ़ता, बलि-बन्धक विष्णु ज्यों नभ में।

(24)

वज्जा० : पक्खणिलेण पहुणो विरणउ मुच्छ त्ति पास पडिएण।
गिद्धंत कड्ढणं दूसहं पि साहिज्जइ भडेण।

संस्कृत : पक्षानिलेन प्रभोर्विरमतु मूर्छेति पार्श्वपतितेन।
गृध्रान्त्रकषणं दुःसहमपि सह्यते भटेन।

गुलेरी जी : इनकी पंख हवा से प्रभु की मुर्छा हटे, विचार यही।
पास पड़ा, गीधों से आंतो को वीर नुचवाता।

(25)

वज्जा० : चिक्कणचिक्खल्लचहुट्टचक्कथक्के भरम्मि जाणिहिसि।
अविसेसन्नय गहवइ परमुहो जं सि धवलाणं।

संस्कृत : चिक्कणकर्दममग्नचक्रिस्थिते भरे ज्ञास्यसि।
अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो यदसि धवलेभ्यः।

गुलेरी जी : जानेगा जब चिकनी फिसलन में, भार से धंसें पहिया।
मोले पटेल! यों तो धवलों से विमुख तू रहता।

(26)

वज्जा० : वियलिमएण गयजोव्वणेण हल्लंतदंतमुसलेण।
अज्ज वि वणं सणाहं जूहाहिव पइ जियंतेण।

संस्कृत : विगलितमदेन गतयौवनेन चलद्दन्तमुसलेन।
अद्यापि वनं सनाथं यूथाधिप त्वया जीवता।

गुलेरी जी : हिलते दन्त-मुसल हैं, मद उतरा है जवानी भी।
तो भी सनाथ वन है, यूथाधिप! आपके बैठे।

(27)

वज्जा० : तह नीससियं जूहाहिवेण चिरविलसियं मरंतेण।
कर गहियं तिणक्वलं हरियं जह झत्ति पज्जलियं।

संस्कृत : तथा निःश्वसितं यूथाधिपेन चिरविलसितं स्मरता।
कर गृहीतं तृणक्वलं हरितं यथा झटिति प्रज्वलितम्।

गुलेरी जी : चिरकाल के विहारों को करके याद, सांस यों भर ली।
गजपति ने, तृणकौरा, सूखा झट सूंड में लगा जलने।

(28)

वज्जा० : करिणिकरप्पियणवसरससल्लईकवलभोयणं दंती।
जई न मरइ सुमरंतो ता किं किसिओ वि मा होऊ।

संस्कृत : करिणीकरार्पितनवसरससल्लकीकवलभोजनं दन्ती।
यदि न म्रियते स्मरंस्तदा किं कृशितोऽपि मा भवतु।

गुलेरी जी : हथिनी-निज-कर सौंपे, कोमल शेली कवल सुमरन कर।
यदि गज मरे न तो क्या दुबला भी वह नहीं होवे।

(29)

वज्जा० : जह जह वढ्डंति थणा तह तह झिज्जंति पंच वत्थूणि ।
मज्झं पइ कोयंडं पल्लिजुवाणा सवतीओ ।

संस्कृत : यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथाक्षीयन्ते मंच वस्तूनि ।
मयं पतिः कोदण्डः पल्लियुवानः सपत्न्यः ।

गुलेरी जी : ये पांच वस्तुएं छीजें ज्यों ज्यों बढ़ते रोज व्याधी के ।
कटि, पति धनु, सब छैले बस्ती के, और निज सौतें ।

(30)

वज्जा० : दिन्नं थणाण अग्धं करिणीजूहेण वाहवहुयाए ।
रंडतणं न पंत है सुन्दरि तुह पसाएण ।

संस्कृत : दत्तः स्तनयोरर्धः करिणीयूथेन व्याधवध्वाः ।
रण्डात्वं न प्राप्तं है सुन्दरि तव प्रसादेन ।

गुलेरी जी । व्याध वधू के स्तन युग को देती अर्घ हथिनीयां सब आ ।
सुन्दरि ! मिला रंडापा हमको न कृपा तुम्हारी से ।

(31)

वज्जा० : मडहं मालइकलियं महुयर दट्ठूण किं पराहुत्तो ।
एतो पसरइ भुवणंतराइ गंधो वियंभंतो ।

संस्कृत : लघ्वीं मालतीकलिकां मधुकर द्रष्टवा किं पराङमुखः ।
इतः प्रसरति भुवनान्तराणि गन्धो विजृम्भमाणः ।

गुलेरी जी : दल है तो बास नहीं, बास नहीं तो न प्रचुर मकरन्द ।
मधुकर एक कुसम में गुण दो या तीन तो नहीं मिलते ।

(32)

वज्जा० : भमरो भमरो ति गुणोज्झिएहि कुसुमेहि लाइओ दोसो ।
लहिऊण मालइं पुण सौ निउणो भमउ जइ भमइ ।

संस्कृत : भ्रमरो भ्रमर इति गुणोज्झितैः कुसुमैरारोपितो दोषः ।
लब्ध्वा मालतीं पुनः स निपुणो भ्रमतु यदि भ्रमति ।

गुलेरी जी : गुणविरहित फूलों ने भ्रमर भ्रमर है क्लंक यह थोपा ।
रस-निपुण मालती को पाकर देखें भ्रमर तो, भ्रम ले ।

(33)

वज्जा० : दिट्ठीतुलाइ भुवणं तुलंति जे चित्तचेलए निहियं ।
को ताण छेयवाणिज्जयाणभण खंडणं कुणइ ।

संस्कृत : दृष्टितुलया भुवनं तुलयन्ति ये चित्ततुलापात्रे निहितम् ।
करतेषां छेकवणिजांभण खण्डनं करोति ।

गुलेरी जी : चित-कांटे पै तौलें जग को, फिर जोख नयन-पलड़ों से ।
काम करें, उन वनिये-चतुरों की काट कौन कर सकता ?

(34)

वज्जा० : सुम्मइ पंचमगेयं पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो ।
हियइच्छिओ रमिज्जई संसारे इत्तियं सारं ।

संस्कृत : श्रूयते पंचमगेयं पूज्यते वृषभवाहनो देवः ।
हृदयप्सितो रम्यते संसार एतावत्सारम् ।

गुलेरी जी : पचम गाना सुनते, वृक्ष-वाहन-देव पूजते निसदिन ।
मन-भावन से रमते, जग में है सार इतना ही ।

इन सुभाषितों में जीवनोपयोगी प्रेरक आदर्श तथा सत्य व्यंजित है। ये सुभाषित सच्चे अर्थों में मानव-जीवन का दर्पण है। वक्रोक्ति तथा श्लिष्टता से इनकी वचन-भंगिमा अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। अनुवाद, भावानुवाद के परिप्रेक्ष्य में शब्दानुवाद के अधिक समीप है तथा अनुवादजन्य दोषों से यथासम्भव मुक्त है। गुलेरी जी ने भाषा में वक्रता तथा लालित्य लाने के लिए यथा सम्भव ब्रज तथा देशज शब्दों का लोकप्रचलित रूप अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं किया है।

1/10853, गली नं० **4**,
सुभाष पार्क, शाहदरा,
दिल्ली–**110032**।

कांगड़ा घाटी में एक रंगमंचीय साया : नोराह रिचड्र्स

–किशोरी लाल वैद्य

नोराह से पहले मुलाकात २८ नवम्बर १९६४ को हुई थी। वह उस समय ८८ वर्ष पूरे कर चुकीं थीं। कानों से बिल्कुल बहरा गई थीं, अतः लिखित रूप से विचारों का आदान-प्रदान हो सका था। पर चूँकि वह अपने खेत, बगिया और लेखन पठन में सबसे बड़ी सक्रिय थी, अतः जीवन के अन्तिम चरण में उनसे कई बार मिलना हुआ। दर्जनों पत्रों का आदान-प्रदान भी हुआ। उनके पत्र उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उन्हें लिखे मेरे सबसे पहले पत्र के उत्तर में १४ नवम्बर १९६४ को उन्होंने लिखा, पहले न लिख पाने के लिए क्षमा मांगती हूं, बहुत व्यस्त रही हूं। मैं एक एकान्तवासी (रिक्लूस) का जीवन जी रही हूं, किसी से मिलती नहीं कहीं जाती नहीं और जहां तक सम्भव हो 'मौन' रहती हूं—हाल ही में ८८ वर्ष पूरे किए है और अब बहरी हो चुकी हूं। इसलिए मिलने योग्य नहीं। लेकिन चूंकि तुम मण्डी से सम्बन्ध रखते हो, तुम आ सकते हो और मुझे मिल सकते हो—किसी भी दिन, बारह बजे दोपहर से पहले, उसके बाद मैं किसी से मिलती नहीं।

'मैं नही चाहती कि मेरे बारे में लिखा जाए लेकिन फिर भी वुडलैण्डस के सम्बन्ध में थोड़ा सा यदि प्रचार हो तो वह इसके भविष्य के हित में बुरी बात नहीं होगी। उस भविष्य में मैं यहां अधिक देर तक जीवित नहीं रह पाऊंगीं। इसलिए तुम आओ, वुडलैण्डस देखो और वैसे केवल संयोग से मुझे भी मिल लो। यदि सम्भव हो तो अपने आने से एक दिन पहले मुझे सूचित करना ताकि मैं कार्य-विमुक्त रह सकूं। मैं एक निष्क्रिय 'रिक्लूस' नहीं।"

हिमाचल के सन्दर्भ में नोराह रिचर्ड्स के व्यक्तित्व और कृतित्व पर नजर डालें तो एक ग्रामीण परिवेश को एक ऐसी विदेशी विभूति के हाथो मिला परिमार्जन, संस्कार तथा अर्थवता प्रकट होती है, जो स्वयं इस धरा के प्रति सहृदय समर्पित रही।

कांगड़ा घाटी में नोराह के क्रियाकलाप की कहानी मई १९२५ से प्रारम्भ होती है जब वह मण्डी-पठानकोट सड़क पर पालमपुर से छः सात किलोमीटर पीछे बनूरी नामक एक स्थान पर रहने लगी थीं। यों नोराह की कहानी भारत में १९११ से शुरू होती है जब वह अपने पति प्रो॰ फिलिप अर्नेस्ट रिचर्ड्स के साथ भारत आई थीं। प्रो॰ रिचर्ड्स लाहौर के दयालसिंह कालेज में इंगलिश के प्राध्यापक नियुक्त हुए थे। १९११ से १९२० तक लाहौर के शैक्षिक बातावरण में

नोराह के निर्देशक में जो नाटक खेले गए, उन्हीं से पंजाबी रंगमंच की शुरुआत हुई। यही कारण है कि पंजाबी साहित्य और कला में नोराह को पंजाबी रंगमंच की जननी के रूप में आज भी सादर व सस्नेह स्मरण किया जाता है। १९२० में प्रो० रिचर्ड्स का देहांत हो गया जिसके फलस्वरूप नोराह चार वर्ष तक भारत से बाहर रही। १९२४ में वह भारत वापिस चली आई और रंगमंच के कार्यक्षेत्र में पुनः सक्रिय हो गई।

महान व्यक्तियों के समक्ष उनका लक्ष्य बहुत स्पष्ट रहता है। रंगमच के प्रति समर्पित नोराह अपनी कला का प्रयोग भारतीय ग्रामीण जीवन के उन्नयन में कहना चाहती थी। अतः उसे ऐसे स्थान की तलाश थी जहां वह रंगमच को माध्यम बरावर अपने स्वप्नों व आदर्शों के अनुकूल एक नये परिवेश का निर्माण कर सके। इस उद्देश्य से धौलाधार के आंचल में स्थित कांगड़ा घाटी की सुरम्य स्थली उन्हें पसन्द आयी। नये वातावरण को आत्मसात करने में उन्हें दो वर्ष लगे। यद्यपि इस दौरान कोई रंगमंचीय गतिविधि नहीं हो पायी लेकिन नये परिवेश से एक सार्थक रिश्ता-नाता बनाने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा।

उन दिनों जोगिन्द्रनगर में 'मण्डी हाइड्रो इलैक्ट्रिक वर्क्स' का काम चल रहा था। ग्रामीण जीवन के अतिरिक्त नोराह ने उस पर भी अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से लेख लिखे। लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'सिवल एण्ड मिलिट्री गजट' के लिए तो उन्होंने पत्र-प्रतिनिधि का काम भी किया। १९२७ में वहीं दनूरी में नोराह ने अपने आवास का अपनी ही देख-रेख में अपने डिजाईनों के अनुकूल निर्माण करवाया। इसी वर्ष उन्होंने 'सरवस्ती समर स्कूल' का आयोजन किया जो कला काव्य, साहित्य और रंगकर्म में रुचि रखने वालों के लिए प्रकृति की खुली गोद में एक अद्भुत अवसर सिद्ध हुआ। समर स्कूल की निदेशिका थी—नोराह और सदस्य थे—जयदयाल, महावीर सिंह और आई. सी. नन्दा। इनके अतिरिक्त सहयोगी तथा अतिथि सदस्यों के रूप में कतिपय सुसंस्कृत हिन्दुस्तानी तथा अंग्रेज भी शामिल रहे।

१९३० में दो वर्ष के लिए नोराह इंगलैण्ड चली गई थी। वहां उन्हें अपने स्वर्गीय पति प्रो०पी०ई० रिचड्स की पुस्तक 'इडियन डस्ट' का प्रकाशन करवाना था। पुस्तक 'एलन एण्ड अनविन' के यहां से प्रकाशित हुई। १९६२ में नोराह वापिस आयी, तो फिर वही कार्य शुरु हो गया कभी साहित्य तो कभी रंगमंच।

१९३४ से नोराह रिचर्ड्स वनूरी से लगभग ६ किलोमीटर दूर अन्द्रेटा में रहने लगी और यही स्थली उनके देहावसान तक ग्रामीण संस्कृति के उनके सपने को साकार करती रही। जिस माटी को नोराह ने ४८ वर्ष पूर्व सींचना आरम्भ किया था, वह आज अर्थात् उनकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष पश्चात भी एक ऐसी गंध लिए हुए हैं जिसे कोई भी आगन्तुक वहां जा कर महसूस कर सकता है।

अन्द्रेटा में जहां नोराह रिचर्ड्स को श्रीमती ई० डब्ल्यू० पार्कर ने 'पार्कर एस्टेट' नामक की जमीन दी, उसे नोराह ने वुडलैंड्स का नाम दिया। वुडलैण्ड्स-डारसेट (इंग्लैंड) में इसी नाम का एक गांव है जहां नोराह तोल्स्तोयन के रूप में तीन वर्ष तक रहीं थीं।

१९२५ से १९७१ तक ४६ वर्ष का अर्सा ऐसा है जो नोराह् को कांगड़ा घाटी के साथ इस प्रकार जोड़ता है जैसे दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये हों यों पहाड़ी वादियां बड़ी सुनसान रहती थी। लेकिन नोराह् ने अपने आवास के दौरान यहां सामाजिक जीवन में जो स्पन्दन पैदा किया, वह बुद्धिजीवी और अनपढ़ के बीच का अन्तर खत्म करता है। कितने ही ऐसे लोग हैं कला और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, जिन्होंने नोराह् का सम्पर्क पा कर अपने योगदान से अपने कार्यक्षेत्र को समृद्ध किया है और उन्हें नई अर्थवता दी है। यहां धर्म–सम्प्रदाय और वाद-विवादों की टकराहट नहीं थी। आयरलैण्ड की यह बेटी एक अर्थवता के साथ हमारी ही अपनी भूमि की पहचान तथा उससे लगाव का एहसास हमें करा गई और यह बहुत सहज स्वाभविक रूप से हुआ। कितने ही ऐसे नाम हैं जो नोराह् से प्रेरणा पाकर ख्याति के अनेक शिखरों पर आरूढ़ हुए हैं। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एम० एस० भटनागर ने अपने छात्र–जीवन के दौरान नोराह् द्वारा आयोजित 'करामात' नामक नाटक में अभिनय किया था। बाद में नोराह् के ही हाथों भटनागर की जीवनी भी लिखी गई जो १९४९ में प्रकाशित हुई। सोहनी–महीवाल के कुशल चितेरे तथा सिक्ख सम्प्रदाय व इतिहास को चित्रकला में निरूपण करने वाले विख्यात कलाकार स० सोभासिंह ने तो नोराह् का निमन्त्रण पा कर स्वयं भी उन्हीं के निकट अन्द्रेटा में स्थायी रूप से बसना स्वीकार किया। नोराह् के ही निमन्त्रण पर उसके आदर्शो के अनुरूप ग्रामीण संस्कृति के निर्माण में उसे जिन अन्य विख्यात व्यक्तियों से सहयोग मिला, उनमें उल्लेखनीय हैं— केन्द्रीय ललित कला अकादमी के सर्वप्रथम सचिव तथा बाद में उसके उपाध्यक्ष श्री भावेश सान्याल, दिल्ली ब्लू आर्ट पॉटरी के स० गुरचरण सिंह, रंगमंच तथा सिने-जगत के सुप्रसिद्ध कलाकार स्व० पृथ्वीराज कपूर के ही कला गुरू स्व० प्रो० जयदयाल तो अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक नोराह् को उसकी ग्रामीण संस्कृति के निर्माण में विशेष रूप से सहयोग देते रहे। सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता स्व० श्रीमती फ्रीदा वेदी भी नोराह् के प्रशंसकों में थी, और अपने जीवन के अन्तिम चरण में जब वह भारत में तिब्बती शरणार्थीयों के कल्याण कार्य में जुटी रही। उन्होंने नोराह् की वुडलैण्डस को ही अपने स्थायी आवास के लिए चुना था। प्रो० सान्याल के प्रयत्नों से वुडलैण्डस में श्रीमती नोराह् रिचर्ड्स, प्रो० जयदयाल तथा श्री पृथ्वीराज कपूर की स्मृति में वुडलैण्ड्स सोसाइटी द्वारा जिस भवन का निर्माण योजनाधीन है। उसका शिलान्यास हिमाचल कला भाषा एवं सस्कृति अकादमी के संस्थापक–अध्यक्ष श्री लाल चन्द प्रार्थी ने रखा था।

इनके अतिरिक्त डा० एस०एस० रंधावा तथा स्व० जी० डी० सोंधी का भी नोराह् से निकट सम्पर्क रहा। यह सूची वास्तव में पर्याप्त लम्बी है लेकिन इस सूची का हर हस्ताक्षर अपनी अलग पहचान रखते हुए भी नोराह् की परम्परा का सशक्त संवाहक रहा है।

लोक सम्पर्क अधिकारी
सोलन (हि० प्र०)

—०—

मण्डियाली के अधिखण्डात्मक स्वनिम
(सुप्रा-सेग्मेंटल फोनीमस)

—डा० जगतपाल शर्मा

'मण्डियाली' हिमाचल प्रदेश जिला मण्डी की बोली है। इस लेख में मण्डियाली में प्राप्त केवल अधिखण्डात्मक (खण्डेतर) स्वनिमों को लेकर विचार किया जा रहा है। मण्डियाली में प्राप्त अधिखण्डात्मक (खण्डेतर) स्वनिमों को आरेखा में इस प्रकार दिखा सकते हैं :

अधिखण्डात्मक-स्वनिम
- मात्रात्मक (क्वालिटेटिव)
  - दीर्घता (लैंथ)
- गुणात्मक (क्वांटिटेव)
  - आघात (एक्सैंट)
    - बलात्मक स्वराघात (बलाघात)
    - संगीतात्मक स्वराघात सुर (पिच)
  - संगम (जंक्चर)
  - अनुनासिकता (नेजेलाइजेशन)

उपर्युक्त आरेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिखण्डात्मक-स्वनिम के मुख्य रूप से दो भेद सम्भव हैं :

१. मात्रात्मक-अधिखण्डात्मक स्वनिम तथा २. गुणात्मक-अधिखण्डात्मक स्वनिम।

अधिखण्डात्मक-स्वनिमों पर विचार करने से पूर्व खण्डात्मक तथा अधिखण्डात्मक-स्वनिमों के अन्तर को लेकर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

१. खण्डात्मक-स्वनिम (स्वर तथा व्यंजन) अपने आप में स्वतन्त्र तथा पूर्ण होते हैं, मगर अधिखण्डात्मक-स्वनिम अपने आप में स्वतन्त्र तथा पूर्ण नहीं होते हैं।

२. खण्डात्मक-स्वनिमों का विश्लेषण पृथक इकाई के रूप में किया जा सकता है, मगर अधिखण्डात्मक-स्वनिमों का नहीं।

३. खण्डात्मक-स्वनिम के दो ही वर्ग स्वर तथा व्यंजन ही सम्भव हैं, मगर अधिखण्डात्मक-स्वनिम के अनेक वर्ग तथा उपवर्ग सम्भव हैं।

४ खण्डात्मक-स्वनिम स्थाई हैं, जबकि अधिखण्डात्मक स्वनिम अस्थाई हैं।

tharahkardu.in

५. अधिखण्डात्मक-स्वनिम, खण्डात्मक-स्वनिमों को घेरे रखते हैं या उन पर छाए रहते हैं। इनका महत्व खण्डात्मक-स्वनिमों के साथ ही है, अकेले नहीं।

मात्रात्मक अधिखण्डात्मक-स्वनिम :

मात्रात्मक अधिखण्डात्मक स्वनिम का एक ही भेद है–'दीर्घता'। दीर्घता के दो भेद किए जा सकते हैं :

१· स्वर-दीर्घता तथा   २. व्यंजन-दीर्घता।

स्वर-दीर्घता (वावल लैन्थ) :

स्वर-दीर्घता मण्डियाली में शब्दों की तीनों स्थितियों में मिलती है, मगर जहां तक व्यतिरेक-युग्मों का प्रश्न है, शब्दों की आदि स्थिति में व्यतिरेक-युग्मों का अभाव है। मध्य तथा अन्त्य स्थितियों में व्यतिरेक-युग्म मिल जाते हैं। आदि स्थिति में :

शब्दों की आदि स्थिति में अल्पतम व्यतिरेक युग्म इस प्रकार हैं :

अइया	'स्थिति विशेष में उच्चरित शब्द', (स्थिति विशेष का द्योतक)
आइया	'आना' आ रही है, (अपूर्ण पक्ष)
इक्की	इक्कीस
ईख	ईख
उट्ठ	उठना (आज्ञा)
ऊट	ऊंट
एस्स	इस
ऐस	आनन्द
ओबरा	कमरा
औत्तर	सन्तानहीन

मध्य स्थिति में :

कर	करना (आज्ञा)
कार	कार (वाहन)
भिड़	भिड़ना (आज्ञा)
भीड़	भीड़
गुण	गुण
गूण	खच्चर का बोझा
बेर	देर
बैर	बैर 'द्वेष'
बोल	बोलना (आज्ञा)
बौल	बालिबाल

अन्त्य स्थिति में :

बाल़्	नाक का गहना
बाट्टू	बतन विशेष
जे	यदि
जै	जय
जो	कर्म कारक पर सर्ग ।
जौ	जौ

विशेष : अ, आ, इ, ई तथा उ, ऊ में मात्रात्मक भिन्नता के साथ गुणात्मक भिन्नता भी है जबकि ए, ऐ तथा ओ, औ में गुणात्मक भिन्नता ही है, जो कि उच्चारण भिन्नता के कारण है।

मण्डियाली में शब्दों की अन्त्य-स्थिति में दीर्घ 'ई' तथा ऊ केवल दीर्घ व्यंजन के साथ ही आते हैं, जैसे—इक्की'–इक्कीस' तथा बाट्टू–'बर्तन विशेष' अन्यथा शब्दों की अन्त्य-स्थिति में 'ई' तथा 'ऊ' मुक्त-वितरण में है।

1·2 व्यंजन दीर्घता (कान्सोनैंट लैन्थ) :

व्यंजन–दीर्घता से तात्पर्य एक ही व्यंजन–ध्वनि का साथ–साथ आने से है। कुछ लोग व्यंजन-दीर्घता को द्वित्व या द्वित्व-व्यंजन कहते हैं। मगर इसे व्यंजन-दीर्घता के रूप में स्वीकार तर्क-संगत है। दीर्घ-व्यंजन के उच्चारण में सामान्य व्यंजन की अपेक्षा अधिक समय लगता है। तथा जिह्वा भी उच्चारण-स्थान से जोर से टकराती है। अतः उच्चारण में समय की अधिकता के कारण इसे व्यंजन–दीर्घता नाम देना ही तर्क-संगत है।

व्यंजन-दीर्घता के लिए अर्थ की निम्नांकित पंक्तियां उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं : ट्ट् तथा उत्क्षिप्त ड़ जैसी ध्वनियों को एक साथ एक समूह के अन्तर्गत ट्ट् तथा ट् से क्यों अंकित किया गया है। इस अंकन के अनेक कारण हैं :

सर्वप्रथम उच्चारण की समानता के कारण, पार्श्विक तथा नासिक्य ध्वनियों को युग्मों में दीर्घता के अन्तर द्वारा स्पष्ट रुप से अलगाया है।

दूसरे क्योंकि दृढ़ अघोष स्पर्श ट्ट् समान संदर्भ में प्रयुक्त ट की अपेक्षा दीर्घहोता है।[1]

विशेष : मण्डियाली में शब्दों की अन्त्य स्थिति में अ तथा इ का प्रयोग नहीं होता है।

---

1. "Here is the reason why ṭ ṭ and what sounds like a flapped ḍ are grouped together by the notaion ṭ ṭ and ṭ. There are several reasons for this notaion.

First of all because of similarity of articulation. The leterals and nasals beiug obviously differentiated in pairs by the length difference.

Secondly, because the tense voiceless stop ṭ ṭ is always langer than the ṭ in similar context."

J. R. Firth, Papers in linguistics, 1934-1951, P. 49.

व्यंजन–दीर्घता के उदाहरण इस प्रकार हैं :

पका	पकाना (आज्ञा)
पक्का	मजबूत (पका हुआ)
बचा	बचाना (आज्ञा)
बच्चा	बच्चा
सजा	सजाना (आज्ञा)
सज्जा	दहिना
भला	भला, अच्छा
भल्ला	पकवान विशेष

मण्डियाली में अल्पप्राण–व्यंजन (र, ड़, ण, ल) के दीर्घरुप नहीं मिलते हैं । अन्य सभी अल्पप्राण–व्यंजनों के दीर्घ रुप मिलते हैं ।

2. गुणात्मक–अधिखण्डात्मक स्वनिम :

गुणात्मक-अधिखण्डात्मक स्वनिम के तीन भेद किए जा सकते हैं :
१ आघात २ संगम ३ अनुनासिकता ।

2·1. अघात (एक्सेंट) :

वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्दों का उच्चारण समान सुर या बल से नहीं होता है। किसी शब्द में सुर या बल की मात्रा अधिक होती है, तो किसी में कम । वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द पर सुर या बल का अधिक प्रयोग ही 'अघात' कहलाता है। मण्डियाली में अघात का स्वनिमिक महत्व है।

अघात के मुख्य रूप से दो भेद किए जा सकते हैं :
१ बलात्मक स्वराघात या बलाघात (बल) तथा २ संगीतात्मक स्वराघात ।

2.1.1. बलात्मक स्वराघात या बलाघात :

बलात्मक स्वराघात के दो भेद किए जा सकते है :
१ शब्द बलाघात २ वाक्य बलाघात

2.1.1.1. शब्द बलाघात :

शब्द-बलाघात से तात्पर्य है कि एक शब्द की विभिन्न ध्वनियों पर आघात या बल का होना तथा उस आघात या बल से अर्थों–भिन्नता का होना । अर्थात एक ही शब्द में एक ध्वनि पर आघात होने से एक अर्थ होना, तथा दूसरी ध्वनि पर आघात होने से दूसरा अर्थ होना । मण्डियाली में शब्द बलाघात इस रुप में नहीं मिलता है । अतः मण्डियाली में शब्द बलाघात का स्वनिमिक महत्व नहीं है ।

2.1.1.2. वाक्य–बलाघात :

वाक्य-बलाघात से तात्पर्य है, वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों में 'आघात' या 'बल' का प्रयोग। वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों में कभी अघात का प्रयोग एक शब्द पर किया जाता है, तो कभी दूसरे पर तो कभी तीसरे शब्द पर किया जाता है। इसी आघात या बल के कारण अर्थ में किंचित अन्तर आ जाता है। वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों में आघात या बल का यह प्रयोग ही 'वाक्य बलाघात' कहलाता है।

मण्डियाली में वाक्य-बलाघात को स्वनिमिक महत्व है। वाक्य-बलाघात के लिए एक वाक्य उदाहरण रुप में लिया जा सकता है, जो कि सामान्य अर्थ का द्योतक हैं। इस वाक्य के सभी शब्दों पर लगभग समान 'बल' है। सभी शब्दों पर लगभग समान बल होने के कारण ही यह वाक्य सामान्य अर्थ का द्योतक है। उदाहरणार्थ :

राम्में, श्याम डण्डे कने मारया। (राम ने श्याम को डण्डे से मारा।)

मगर इसी वाक्य में किसी शब्द विशेष पर बल देने का तात्पर्य है किसी बात विशेष पर बल देना। वाक्य के अर्थ में जो किंचित अन्तर आता है, वह इसी बलाघात के कारण आता है। बलाघात के कारण अर्थ के जो अन्तर आता है उसे यहां पर स्पष्ट किया जा रहा है। आघात या बल युक्त शब्द को रेखांकित किया गया है :

१ **राम्में**, श्याम डण्डे कने मार्या।	राम ने श्याम को डण्डे से मारा। (केवल राम ने)
२ राम्में, **श्याम** डण्डे कने मार्या।	राम ने श्याम को डण्डे से मारा। (केवल श्याम को)
३ राम्में श्याम **डण्डे कने** मार्या।	राम ने श्याम को डण्डे से मारा। (केवल डण्डे से किसी और चीज से नहीं।)
४ राम्में, श्याम डण्डे कने **मारया**।	राम ने श्याम को डण्डे से मारा। (कि डराया, या भगाया।)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वाक्य के विभिन्न शब्दों में आघात या बल का स्थान बदल देने से अर्थ भी बदल जाता। अतः मण्डियाली में 'वाक्य-बलाघात' का महत्वपूर्ण स्थान है।

2.2. संगीतात्मक स्वराघात या सुर :

मण्डियाली में संगीतात्मक-स्वराघात या सुर का स्वनिमिक महत्व है। संगीतात्मक स्वराघात को समझने के लिए फ्रेंचिज की निम्न पंक्तियां पर्याप्त हैं।

"सुर, स्वरतन्त्रियों के खिचाव और उसमें उत्पन्न घोष या कम्पन के आरोह–अवरोह के क्रम पर निर्भर करता है। सुर की भिन्नताएं आकस्मिक नहीं होती है। वे बोली के गठन के अंग के रूप में होती है।"[1]

1. W. Nelson Francis, The Structure of American Enlish, P.P. 113-114.

मण्डियाली में संगीतात्मक-स्वराघात या सुर का शब्द तथा वाक्य दोनों स्तरों पर स्वनिमिक महत्व रखता है। दोनों स्तरों पर होने के कारण ही संगीतात्मक-स्वराघात या सुर के दो भेद किए जा सकते हैं :

१ तान (टोन) तथा २ अनुतान (इन्टोनेशन)।

2.2.1. तान (टोन) :

जब संगीतात्मक-स्वराघात 'शब्द-स्तर' पर हो तो उसे 'तान' (टोन) कहा जाता है। एक ही शब्द में तान बदल जाने से अर्थ भी बदल जाता है। मण्डियाली में तान अपना अस्तित्व स्थापित करने जा रही है। मण्डियाली में तान के दो ही रुप मिलते हैं :

मध्य— |–| उच्च— |/|

निम्न तान |/| मण्डियाली में नहीं मिलती है। मध्य तथा उच्च तान के व्यतिरेक–युग्म इस प्रकार हैं :

१	— बार	दिन	/ बार	बाहर
२	— मैल	मैल	/ मैल	महल
३	— बीण	सर की चोटी, वाद्ययन्त्र	/ बीण	घनियां
४	— मूल़	मूल	/ मूल़	ओखली में धान कूटने का डण्डा
५	— कोरा	पाला, कोरा, (कागज)	/ कोरा	इकहरा

उपर्युक्त व्यतिरेक–युग्मों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'तान' भिन्नता के कारण ही एक शब्द दो अर्थों का वाचक है। इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। मगर 'तान' को लेकर इसलिए विस्तार से विचार नहीं किया जा रहा है, क्योंकि मण्डियाली में 'तान' और 'प्राणत्व' (ब्रीदिंग) मुक्त–वितरण (फ्री-वेरीएशन) में हैं।

'तान' तथा 'प्राणत्व' मुक्त-वितरण में होने के कारण उपर्युक्त 'तान' सहित व्यतिरेक युग्मों को 'प्राणत्व' के साथ इस प्रकार लिपि-चिन्हित किया गया है।

१	बार	दिन
	बाह्‌र	बाहर
२	मैल	मैल
	मैह्‌ल	महल
३	बीण	सर की चोटी, वाद्य यन्त्र
	बीह्‌ण	घनियां

४ मूल	मूल
मूह्ल	ओखली में धान आदि कूटने का डण्डा
५ कोरा	पाला, कोरा, (कागज) आदि
कोहरा	इकहरा आदि

तान तथा प्राणत्व को लेकर आगे चलकर अलग से विचार किया गया है।

2.2.2. अनुतान (स्वर लहर) इन्टोनेशन :

जब संगीतात्मक-स्वराघात या सुर वाक्य स्तर पर हो तो उसे 'अनुतान' या 'स्वर लहर' कहा जाता है। वाक्य स्तर पर मण्डियाली में 'अनुतान' का विशेष महत्व है। एक ही वाक्य, उसमें प्रयुक्त विभिन्न शब्दों में प्रयुक्त 'अनुतान' के कारण उससे विभिन्न अर्थ या मनोभाव व्यक्त होते हैं।

अनुतान' में 'आघात', सुर आदि सभी का महत्व है। ब्लाक तथा ट्रेगर के शब्दो में "आघात का ऐसा अभिलक्षण जो कि अकेले शब्दों की अपेक्षा वाक्य से सम्बन्धित हो 'अनुतान' कहलाता है।"[1]

'अनुतान' या 'स्वर लहर' के विभिन्न धरातलों को विभिन्न प्रकार से अंकित किया जाता है-अंकों द्वारा, रेखाओं द्वारा तथा बिन्दुओं द्वारा।

आधुनिक भाषा-विज्ञानवेता अनुतान या स्वरलहर के विभिन्न धरातलों को '1' से '3' अंकों द्वारा व्यक्त करते हैं। इन अंकों में स्तर '1' निम्नतम, स्तर '2' मध्यतम तथा स्तर '3' उच्चतम धरातलों को व्यक्त करते हैं।

'अनुतान' के इन धरातलों को अंकों द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

    2   3 1
१. काल ठण्ड जादा थी—'कल सर्दी अधिक थी।' (सामान्य भाव)

    2
२. राम एस्सरा म्हठाआ—'राम इसका लड़का है।' (सामान्य भाव)

अन्य मनोभावों को व्यक्त करने के लिए अनुतान के धरातल बदलते रहते हैं, जिन्हें लेकर यहां विचार नहीं किया जा रहा है।

2·2 संगम (जंवचर) :

'संगम' से तात्पर्य शब्दों की कुछ ध्वनियों के उच्चारण तथा वाक्य के कुछ शब्दों के उच्चारण के पश्चात जो विराम या ठहराव की स्थिति होती है, वही विराम या ठहराव 'संगम' कहलाता है। इस विराम या ठहराव से अभिप्सित अर्थ में अन्तर आ जाता है।

---

1. Feature of accent pertaining to the sentence rataer than to individual words are called 'Intonetion.'

Block and Trager, outlinas of Linguistics Analysis. P. 42

ब्लाक तथा ट्रेगर ने 'संगम' को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"फिनोमिना जो कि इस बात से सम्बन्धित हो, जिसके द्वारा ध्वनियां आपस में इकट्ठी होती हों, को 'संगम' शब्द के अन्तर्गत संग्रहित किया है ।"[1]

मण्डियाली में 'संगम' का स्वनिमिक महत्व है। यहां पर 'संगम' को दो स्तरों पर देखा जा सकता है :

१ आन्तरिक संगम तथा २ वाक्य-सीमान्तिक संगम।

2.2.1. आन्तरिक संगम (इंटर्नल जंक्चर) :

आन्तरिक-संगम को निम्नांकित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

१ बर्फील्ले	बर्फ वाले
(बर्फी+ले)	बर्फीले
२ सुज्जीरा	सोजस से सम्बन्धित
सुज्जी+रा	सूजी से सम्बन्धित
३ खर्चील्ले	खर्च से सम्बन्धित
खर्ची+ले	खर्च करना

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में अर्थ-भेद की स्थिति का मुख्य कारण संगम का होना तथा न होना है। इस संगम को 'धन-संगम' (प्लस जंक्चर) का नाम भी दिया गया है। इसे ही 'शब्द-संगम' या वाक्यांश-सगम की संज्ञा भी दी गई है। 'धन-संगम' के कारण ही इसे धन-चिन्ह (+) द्वारा चिन्हित किया गया है।

2·2·2 वाक्य-सीमान्तिक संगम (विराम) :

वाक्य-सीमान्तिक संगम या विराम का मण्डियाली में स्वनिमिक महत्व है। इसे 'अल्प-विराम संगम' या 'कौमा-संगम' भी कहा जाता है। इसी कारण इसे कौमा (अल्प-विराम) द्वारा चिन्हित किया जाता है। उदाहरणार्थ :

१ रोट्टी पकावा, खावा नीं।	रोटी पकाओ, खाओ मत।
रोट्टी, पकावा-खावा नीं।	रोटी, पकाओ-खाओ मत।
२ तुस्से आवा, जावा नीं।	आप आईए, जाइए मत।
तुस्से आवा-जावा, नीं।	आप आइए-जाइए, मत।

1. Phenomena relating to the way in which sounds are joined togather are summerized under the term 'Juncture.' Block and, Trager, outlines of Linguistic Analysls, p. 35.

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-भेद का अन्तर ठहराव या कौमा के आगे-पीछे हो जाने के कारण हुआ है। इसी कारण इसका स्वनिमिक महत्व है। डा भोलानाथ तिवारी इसी कारण इस संगम को 'अल्प-विराम संगम' या 'कौमा संगम'[1] कहते हैं।

2·3. अनुनासिकता (नेजेलाइजेशन) :

मण्डियाली में अनुनासिकता का विशेष महत्व है। किसी भी स्वर को अनुनासिक तथा निरनुनासिक दोनों ही रूपों में उच्चरित किया जा सकता है। इस कारण अनुनासिक तथा निरनुनासिक स्वर के कारण अर्थ भेद की स्थिति पैदा हो जाती है। इसी कारण मण्डियाली में अनुनासिकता का स्वनिमिक महत्व है।

इससे पूर्व कि अनुनासिकता को लेकर विचार किया जाए अनुनासिक तथा अनुस्वार के अन्तर को लेकर संक्षेप में विचार करना तर्क-संगत प्रतीत होता है। इन दोनों के अन्तर को डा० आर्येन्द्र शर्मा का हवाला देते हुए स्पष्ट किया जा सकता है :

स्वर के ऊपर (अँ, आँ आदि) 'ँ' (चन्द्र बिन्दु) चिन्ह इस बात का संकेत है कि स्वर अनुनासिक (अनुनासिका) है, या नाक के रास्ते भी बोला जाता है।

स्वर के ऊपर 'ं' (अनुस्वार) चिन्ह किसी भी व्यंजन स्वर ङ, ञ, ण, न तथा म को व्यक्त कर सकता है, जिनका उच्चारण स्वर के पश्चात होता है।[2]

अनुस्वार तथा अनुनासिक दोनों के उच्चारण में वायु तो नासिका विवर से भी बाहर निकलती है। अनुस्वार के उच्चारण में मुख-विवर से निकलती हुई वायु में स्पर्श के कारण अवरोध उत्पन्न होता है, जबकि अनुनासिक के उच्चारण की स्थिति में वायु मुख-विवर से अबाध-गति से बाहर निकलती है।

अनुस्वार और अनुनासिक के चिन्हों का जहां तक प्रश्न है, एक स्थिति ऐसी है जहां पर दोनों चिन्हों में समानता मिलती है। अनुनासिक-चिन्ह के अनुस्वार-चिन्ह में बदलने की स्थिति इस प्रकार है।

जब अनुनासिक चिन्ह 'ँ' (चांद-बिन्दु) का प्रयोग किसी मात्रा के साथ होता है तो 'ँ' (चन्द्र-बिन्दु) अनुस्वार-चिन्ह 'ं' (बिन्दु) में बदल जाता है। इस बात को हिन्दी से उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ :

---

1. डॉ भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान कोश।
2. "The sign ँ (chandra-bindu) placed above (अँ, आँ) ect. indicates that the vowel is nasabized (Anunasika) or spoken also through the nose.

The sign 'ं' (Anuswara) placed above a vowel may represent any one of the consonants— ङ, ञ, ण, न म (to be pronounced after the vowel.)
A. Sharma, A Basic Grammer of modren Hindi, P. 2.

सोमसी

भौंकना	भौंकना
इट	ईंट
मैं	मैं
हैं	हैं आदि

उपर्युक्त उदाहरणों में अनुनासिक-चिन्ह (चन्द्र-बिन्दु) के लिए अनुस्वार चिन्ह (बिन्दु) का प्रयोग हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि अनुस्वार के लिए दो लिपि चिन्ह हैं। अनुस्वार को — ङ, ञ, ण, न, तथा म व्यंजनों द्वारा भी तथा "ं" (बिन्दु) द्वारा भी लिपि-चिन्हित किया जा सकता है। अनुनासिक केवल स्वर ही हुआ करते हैं, व्यंजन नहीं। जबकि अनुस्वार व्यंजन ही हुआ करते हैं, स्वर नहीं।

अनुस्वार तथा अनुनासिक दोनों प्रकार के चिन्हों में एक समानता यह पाई जाती है, कि चिन्ह के ही रूप में दोनों का प्रयोग स्वरों के ऊपर होता है। यहां पर ध्यान देने वाली बात यह है, कि अनुस्वार के लिए जब "ं" (बिन्दु) चिन्ह का प्रयोग न करके व्यंजन का प्रयोग किया जाता है तो नासिक्य-व्यंजन का प्रयोग स्वर के साथ होता है, स्वर के ऊपर नहीं।

अनुनासिकता के स्वनिमिक महत्व के लिए अनुनासिक तथा निरनुनासिक स्वरों में व्यतिरेक युग्म इस प्रकार हैं :

अ, अं	कस	कसना (आज्ञा)
	कंस	राजा का नाम
आ, आं	आग	आग
	आंग	ईकाई, एक संख्या
ई, ईं	पी	पीना (आज्ञा)
	पीं	वाहन ध्वनि
ऊ, ऊँ	त्वारू	रविवार के दिन पैदा होने वाला
	त्वारूं	उतारना (उ· पु. एक. व.)
ऐ, ऐं	बैठ	बैठना (आज्ञा)
	बैंठ	खाने-पीने की पंक्ति
ओ, ओं	रोग्गी	रोगी
	रोंग्गी	रोंऊंगी (उ. पु. एक. व.)
औ, औं)	पौ	गिरना (आज्ञा)
	पौं	वाहन ध्वनि

इस प्रकार सभी स्वर-ध्वनियों का अनुनासिक तथा निरनुनासिक उच्चारण सम्भव है, जिसके कारण अर्थ-भेद की स्थिति पैदा हो जाती है।

2.4 प्राणत्व तथा तान (ब्रीदिंग एण्ड टोन) :

मण्डियाली भाषियों की बोली को सुनने से ऐसा प्रतीत होता है, कि यह बोली किसी हद तक 'पंजाबी' से प्रभावित है, या होती जा रही। इसका एक मात्र कारण पंजाबी भाषियों का इस क्षेत्र में लगातार आना-जाना प्रतीत होता है। वैसे भी हर भाषा या बोली का गुण है कि वह अपनी पड़ोसी भाषाओं या बोलीयों से किसी न किसी रूप से प्रभावित होती है। 'तान' गुण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मण्डियाली अपनी पड़ोसी बोलियों कांगड़ी, बिलासपुरी (कहलूरी) तथा पंजाबी आदि से प्रभावित है तथा होती जा रहीं है।

मण्डियाली पर पड़ोसी बोलियों के प्रभाव को लेकर अपनी इस बात के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि शब्द-स्तर पर इसमें 'प्राणत्व' तथा 'तान' मुक्त-वितरण (फ्री वैरीएशन) में है। यह बात उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाएगी।

प्राणत्व		तान	
बाह्‌र	—	/बार	बाहर
मैह्‌ल	—	/मैल	महल
सैह्‌र	—	/सैर	शहर
बीह्‌ण	—	/बीण	धनियां
कोह्‌रा	—	/कोरा	इकहरा आदि।

उपर्युक्त उदाहरणों में हम 'ह्‌' तथा 'तान' को मुक्त वितरण में पाते हैं। अत: उपर्युक्त सभी शब्दों को दोनों तरह (बाह्‌र–बार) से लिपिसंगत किया जा सकता है या दोनों ही चिन्ह लिपिसंगत हैं। मण्डियाली में 'तान' अब तक अपना अस्तित्व स्थापित कर रही है, इसी कारण से एसे शब्दों को लिपिसंगत करने के लिए 'प्राणत्व' अर्थात 'ह्‌' लिपिचिन्ह को ही अपनाया गया है, तान' को नहीं।

अत: मण्डियाली में 'प्राणत्व' को अधिखण्डात्मक स्वनिम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्राणत्व तथा अप्राणत्व के व्यतिरेक युग्म इस प्रकार हैं।

बाह्‌र	बाहर
बार	दिन
बीह्‌ण	धनिया
बीण	सर की चोटी, वाद्ययन्त्र

बेह़्ड़ा	राजा का महल, किले आदि
बेड़ा	पानी में लकड़ी का बेड़ा
सैह़्र	शहर
सैर	सैर
कोह़्रा	इकहरा
कोरा	पाला, कोरा कागज
मूह़्ल	ओखली में धान आदि कूटने का डण्डा
मूल	मूल आदि

हिन्दी विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला–५

कागड़ा घाटी और चैत्र मास का गीत

–डा० गिरिधर 'योगेश्वर'

भारत के शहर भले कितने ही बदल जाएं, गांवों का अपना अलग, चोखा, निराला रंग सदैव कायम रहेगा। इस कथन का भाव यह नहीं कि गांव ज्यों के त्यों हैं–कुछ भी परिवर्तन इनमें नहीं हुआ है, या अपेक्षित नहीं है। गांवों में भी परिवर्तन हुए हैं, और हो रहे हैं–वे भी मंथर गति से नहीं अपितु पूरे धमाके से। तथापि प्राचीन परम्पराएं, जो किसी भी देश की सांस्कृतिक पूंजी होती हैं—गांवों से जा पायेंगी ? अविश्वसनीय है ऐसा सब। वैसे तो भारत के सभी गांवों की अपनी-अपनी परम्पराएं, अपने-अपने रीति रिवाज हैं, तथापि हिमाचल जो एक प्रकार से ग्राम-परम्परा में सब राज्यों का अग्रणी है, अपने गांवों की विभिन्नता, रंगीनता, विविधता एवं वैचित्र्य के कारण सदैव सर्वप्रथम है। हिमाचल विशेष कर कांगड़ा घाटी की विविध परम्पराओं में से विक्रमी संवत के आरम्भिक मास (चैत्र) का नाम सुनना (णां सुणना) भी एक है। लेखक को याद है कि जब वह बच्चा था तो उसकी मां उसे चैत्र मास का नाम नहीं लेने देती थी। इस अन्धविश्वास का प्रमुख कारण भारतीय परम्परा के अनुसार नए वर्ष (देशी वर्ष, विक्रमी सम्वत्) के आरम्भिक मास (चैत्र मास) को पवित्र मानना प्रतीत होता है। भारत में आजकल विदेशी प्रभाव का बाहुल्य होने के कारण न्यानवें प्रतिशत से अधिक युवकों को शायद पता भी न हो कि भारतीय वर्ष का वास्तविक आरम्भ विक्रमी सम्वत् के अनुसार चैत्रमास से होता है। तथापि इतना है कि जिस प्रकार विदेशी प्रभाव के अधीन जनवरी मास से अंग्रेजी वर्ष का प्रारम्भ होने के कारण उन दिनों 'न्यू इयर ग्रीटिंगज्' (New Year Greetings) भेजने अथवा लेने देने की प्रथा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, और इसी तरह प्रथम जनवरी को प्रायः सभी लोग एक दूसरे को 'हैप्पी न्यू इयर' (Happy New Year) की मंगल कामना लेते-देते हैं—उसी तरह भारत में प्राचीन काल से ही नए देसी वर्ष (विक्रमी सम्वत्) के प्रथम मास (चैत्र मास, जो मार्च में पड़ता है) में पूरे वर्ष की मंगल कामना की जाती है।

ऐसा अन्धविश्वास प्रायः कागड़ा घाटी में सर्वत्र पाया जाता है कि चैत्र मास का नाम केवल ढूमणों [ढोम] से ही सुनना चाहिए, अन्यथा दोषपूर्ण, अभाग्यसूचक एवं आपत्तिजनक समझा जाता है। अतः यहां की स्त्रियां अपने मुंह से इस मास का नाम वैसे ही नहीं लेतीं, जैसे पति का नाम। चैत्र मास को कांगड़ी में स्त्रियां प्रायः ढोलरूआ आला मीह्णा (ढोलकों वाला महीना) कहती हैं। कारण, ढूमणां लोग ढोलकों पर ही चैत्रमास का गीत घर-घर जाकर सुनाते हैं। केवल ढूमणें ही क्यों चैत्र मास का नाम सुनाते हैं, अथवा

ढूमणों द्वारा ही इस मास का नाम सुनना क्यों श्रेयस्कर समझा जाता है ?—इस प्रहेलिका का उत्तर पुन: 'शिव विवाह' की एक अन्धविश्वासी गाथा से दिया जाता है। ढूमणें लोग प्राय: बताते है कि शिव पार्वती के विवाह अवसर पर सभी जातियों के लोग अपनी-अपनी वर्ण-व्यवस्थानुसार कार्यभार निभाने हेतु उपस्थित हुए। ढूमणा जाति के लोग भी बड़े कौशल से अपनी गायन-कला का प्रदर्शन करने लगे। उनके कला कौशल से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें वर दिया, 'जाओ, अपनी इस कला द्वारा नववर्ष के आरम्भ की सूचना देते एवं मंगल कामना करते हुए सदैव सर्वत्र विचारो। इस कार्य से तुम्हें अन्न-धन की कभी भी कमी महसूस नहीं होगी।' तब से यह परम्परा उनमें अक्षुण्ण है।

फाल्गुन के अन्त (मासांत=पहाड़ी में प्राय: मसांत कहते हैं) एवं चैत्र के आरम्भ में ढूमणों की चांदीं ही चांदी होती है। चैत्र के पहले प्रविष्टे से आरम्भ होकर कोई दस बारह दिन तक पूरे जोर-शोर से मास का नाम सुनने-सुनाने का उपक्रम चलता है। वैसे तो सम्पूर्ण चैत्र मास में यह घटना-क्रम छुट पुट चलता रहता है, पर अधिक जोर पहले के दो सप्ताहों में ही भरपूर होता है। प्राय: ढूमणा-ढूमणी जोड़ा रूप में घर-घर गाते चलते हैं, पर यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है। अकेले ही ढूमणा भी यह कार्य करता दीख जाता है। कभी-कभी पिता-पुत्र, मां-बेटा, देवर-भाभी इत्यादि भी इस परम्परा में चलते दीखते हैं। इतना है कि पुरुष के पास ढोलक अवश्य चाहिए, जिसे वह पांव पर रख कर तथा उसकी रस्सी को घुटनों में फंसाकर 'मास का गीत' गाता है–और उसके सुर में उसका साथी (अथवा साथिन) भी सुर मिलाता है। चैत्र मास का ढोलक पर गाया जाने वाला गीत निम्न प्रकार से है, जिसमें कभी कभार ढूमणा-गायक अपनी आवश्यकतानुसार छोटा-मोटा परिवर्तन भी कर लेते हैं :

पहलां तां णां लैणा नाराण दा, जिन्हीं दुनिया बसाई ए।
दुआ तां णां लैणा माई-बाप दा, जिन्हां दस्या संसार ए।
तिजा तां णां लेईए गुरू आपणे दा, जिन्हां विद्या पढ़ाई ए।
सब्बे ताँ ऋतु ने रावा फिरि रहियां, मानस फिरि न औएन्द।
घुगुएं भरियों राम कटोरियाँ, चदर चड़े दरवाजें।
आयाणां चैत-वैशाख में, जे कोइ सुण्णें भागमान।
इन्दड़ा गिया घर अपणें, आई सोए दी बहार।
तुलसी डाली तां गोरिए नाँ लेइए, तुलसी जाति दी बसनेटी।
मरूआ डाली तां गोरिए नां लेइए, मरूआ जाति दा कदरेटा ए।
कौंल्लेह दे फुल्ले तां गोरिए नां लेइए, कोल्ला फुल्ल ठौंकरें प्यारा।
अरणी फुल्ल गोरिए नां लेइए, आरण जाति दा ललरणडह।
सीता चल्ली ए पाणिए, हत्थें लिया सोस गड़ोलू।
पुछण्णां लेई राजे रामचन्दे, सीता रहियो बढदी बहार॥

उपर्युक्त गीत में जिसे गायक घटा-बढ़ा लेता है— जीवन की सत्यता, चैत्र मास की महत्ता, प्रकृति का राग-रंग, लोक गाथाएं आदि–सब आ जाता है। गीत की प्रत्येक पंक्ति को दो बार गाया जाता है। ढोलक-वादक गीत में अपेक्षित परिवर्तन भी कर लेते हैं– उदाहरणार्थ १ गीत की पंक्तियां सभी गायक एक ही क्रम में नहीं गाते– क्रम बदल भी दिया जाता है। २ शब्दावलि भी घटाई बढ़ाई जाती है– यथा गीत को पहली पंक्ति में नाराण (नारायण) के स्थान पर राम, बसाई के स्थान पर रचाई। इसी तरह आयाणां चैत वैशाख में जे कोई सुण्णै भागमान के स्थान पर चढ़या णां चैत्रा वैशाख में, सुणदेयां धन्नहोआ, तिजा तां णां लेइए गुरू आपणे, जिन्हां विद्या पढ़ाई ए के स्थान पर त्रिया तां णां लणा गुरू आपणा, झड़ह् दे काया दे पाप हुण, कौल्ला फुल्ल ठोंकरें प्यारा के स्थान पर कौल्ला फुल्ल राज्जें प्यारा इत्यादि। इतना सब होने पर भी इस गीत का सुर और ढोलक पर ताल (थाप) इत्यादि सब गायकों की एक सी रहती है। गाने का सुर दीर्घ और लम्बा रहता है और ढोलक पर के दोनों ओर दो लकड़ियों की छोटी सी छड़ियों से थाप एक साथ न देकर बारी-बारी से दी जाती है। क्योंकि प्रायः सभी डूमणा गायकों की सुर व थाप समान रहती है, अतएव एकांत, बन्द कमरे में बैठा व्यक्ति, जिसने कभी पहले एक बार भी डुमणों से चढ़ते संवत् का यह नाम सुना हो, ढोलक पर कहीं भी वैसी पड़ती थाप से एकदम समझ जाता है कि बाहर डुमणे गायक आये हैं।

चढ़ते संवत् [विक्रमी] के नाम सुनाने के फलस्वरुप प्रत्येक डुमणे को कुछ आटा, मक्की गुड़, पैसे इत्यादि हर घर से मिल जाते हैं और साथ ही कोई नया-पुराना कपड़ा-लत्ता भी। यदि किसी घर में नया विवाह हुआ हो या बच्चा हुआ हो अथवा कोई शुभ घटना घटी हो तो भेंट अधिक हो जाती है। वैसे तो महत्ता उपर्युक्त मास गीत सुनने सुनाने की ही रहती है। फिर भी डुमणे गायक कभी-कभार यजमान की फ़रमाइश पर कुछ अन्य लोकगीत आदि, नाम गीत के उपरान्त सुना देते हैं।

नए सम्वत् के 'नाम गीत' सुनाने की परम्परा में जहां अनेक अच्छाइयां हैं–यथा : १. डूमणों की रोजी-रोटी चलती है। २. लोगों में स्फूर्ति-उत्साह-इकट्ठ इत्यादि की भावना जागती है। ३. नए सम्वत् का नाम डूमणों के मुख से सुना है अतः सम्वत् शुभ बीतेगा–ऐसी मनोवैज्ञानिक उत्साहवर्द्धक भावना साधारण जनता के मनोबल को सारा साल बनाए रखती है। ४. प्राचीन लोक परम्पराएं एवं रीति रिवाज गतिमान रहते हैं और लोक इतिहास का भी ज्ञान साधारण जनता को रहता है (उदाहरणार्थ गायक अनेक एतिहासिक किस्से इत्यादि नाम गीत के साथ सुनाते हैं), वहां दूसरी ओर इसकी कुछ बुराइयां भीं हैं। उदाहरणार्थ : १. यह लोक परम्परा एक प्रकार से मांगने का ढ़ंग ही है। २. मास का गीत सभी डूमणे गायक प्रायः एक ही सुर एवं ताल में गाते हैं, अतः 'कला' नाम की कोई विशेष बात गीत में नजर नहीं आती, ३. डूमणा जाती में इस कार्य से हीन भावना प्रायः रहती है– यथा जिस घर में वे जाते हैं, स्वयं ही बाहर आंगन में बैठ जाते हैं। बड़े घरों की स्त्रियां इन्हें बैठने तक को आसन इत्यादि नहीं देतीं। यहां यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि डूमणे अछूत समझे जाते रहे हैं बांस के टोकरे-टोकरियां

कुर्सियां अलमारियां इत्यादि बना और बेच कर ये अपना पेट भरते हैं। वैसे नवजागरण के साथ काफी परिवर्तन हुए हैं और नई रोशनी के डूमणों के लड़के इस पुश्तैनी परम्परा को तोड़ रहे हैं।

डूमणे प्राय: अशिक्षित होते हैं। वे 'मास गीत' ढोलक पर तो गा लेते हैं, पर तोते की तरह रटे गीत का भावार्थ शायद ही उनमें से कई बता सके। यहां तक कि, ढोलक से अलग, मौखिक तौर पर गीत सुनाने में भी वे असमर्थ होते हैं। लेखक ने उपर्युक्त चैत्र मास के गीत का संकलन चार-पांच डूमणा-गायकों से सुनकर किया, जिसमें उसे काफी कठिनाई रही। कारण, ढोलक पर जिस तरह वे गाते हैं–प्राय: समझ नहीं आता। मौखिक तौर पर पूछें तो बीच में भूल जाते हैं, और क्रम तक बदल देते हैं।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि समय के परिवर्तनशील चक्र के साथ हिमाचल की लोक-परम्पराएं भी क्षीण होती जा रही हैं। जनता एवं सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए तथा कुछ ऐसा किया जाना चाहिए कि जनमानस की झलक देती लोक परम्पराएं स्वस्थ एवं सधे रूप में पुनः जागृत हों।

क्रिया योगाश्रम, कीर्ति भवन,
गुलेर, कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)

गुरु रांग-रिग रेपा : संक्षिप्त जीवनी

—तोबदन

गुरू रांग-रिग रेपा, जिनका बचपन का नाम कुंगा ग्यछो (आनन्द सागर) था, स्पिति के इतिहास का एक अत्यन्त देदीप्यमान सितारा है जो विस्मृति के अन्धकार में अदृश्य हो गया है। आज उनके विषय में कुछ ही लोगों को ज्ञान है।

गुरू रांग-रिग रेपा डुग्पा-कर्ग्युदपा सम्प्रदाय की परम्परा के एक प्रमुख लामा माने जाते हैं। वे बहुत बड़े विद्वान थे। अपने समय में स्पिति, लद्दाख, ज़ांस्कर और लाहुल में सबसे बड़े विद्वान गुरू माने जाते हैं। उन्होंने अनेकों गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने भारत, नेपाल और तिब्बत के कई प्रमुख स्थानों का भ्रमण किया था और उन स्थानों पर विद्वानों के पास जाकर अध्ययन किया। उनकी लग्न और साहस का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे इन सभी स्थानों पर पैदल ही घूमे थे। उनके द्वारा लिखित कृतियां लगभग सात खण्डों में फैली हुई बताई जाती है। लेकिन अभी तक मात्र दो ही खण्ड उपलब्ध हो सके हैं।

वे लद्दाख के राजा देल्दन नमग्यल (लगभग १६४०-१६७५ ई० सन्) के समकालीन थे। गुरू लुङ ङाग-वांग दोर्जे, उनके प्रमुख शिष्य और उनकी जीवनी के लेखक, के अनुसार रांग-रिग-रेपा का जन्म मेष वर्ष में हुआ और उनकी मृत्यु जल-शूकर वर्ष में हुई। उनके जन्म और मृत्यु के विषय में यह सूचना अधूरा और अपर्याप्त है। फिर भी उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उनकी मृत्यु १६८३ ई० सन् में हुई। इसी आधार पर अनुमानतः उनका जन्म १६०७ ई० सन् में हुआ। इस तरह उनको ७६ वर्ष का जीवनकाल मिलता है। आगे और तथ्य उपलब्ध होने पर हम इन तिथियों को निश्चित रूप से बता सकेंगे। उनका जन्म स्थान स्पिति में रांग-रिग नामक गांव है। मञ्जुश्री को अर्पित इस गांव के मन्दिर में लामा शाक्य छेरिंग और उनकी धर्मपत्नी छेरिंग डोलमा के परिवार में उनका जन्म हुआ। उनके पिता भी लामा थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी यहीं पूरी हुई। नीचे उनके एक शिष्य द्वारा लिखित उनकी संक्षिप्त जीवनी का अनुवाद प्रस्तुत है।

भट्टारक रांग-रिग रेपा के विमोक्ष की कल्पद्रुम रूपी अध्येष्णा आरम्भ होता है।

नमो गुरू अतिज्ञानाय ! सर्वजिनों के करूणा के रूपधारिन श्रीयुत परमगुरू रांग-रिग रेपा के चरणों में प्रणाम करते हुए उनकी शरण में जाता हूं। महान कृपा से मुझे अनुगृहीत कीजिए।

महागुरू, सिद्धों के परमेश्वर परम स्वामी रांग-रिग रेपा कलियुग में यहां हिमवत में अनुकम्पा की माया से पधारे और उन्होंने दसों दिशाओं में योग, तन्त्र और शासन को प्रसारित किया। इस क्षेत्र में उनके आगमन और परार्थगमन तक जिस अद्भुत और आश्चर्यजनक विधि से उन्होंने यह कार्य किया, स्व और पर की श्रद्धा की वृद्धि हेतु मैं संक्षेप में वर्णित कर रहा हूं। पक्षपात छोड़कर नम्रतापूर्वक सुनिए।

पुरुष की जन्मभूमि डा-रीस की ओर, स्थिति है। श्री मंजु (के मन्दिर) में संवत्सर मेष, (महीना) तदनुसार तिथि दस को गुरु शाक्य छे रिंग और उनकी पत्नी छे रिंग डोलमा के घर सुपुत्र रूप मनन करते हुए उत्पन्न हुए। मैं उनको प्रमाण करता हूं। तीन वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उन्होंने वज्रपर्यंक मुद्रा धारण करके बालकों के समूह को धर्म का उपदेश दिया और तीन कालों को स्पष्ट देखते हुए पूर्वा पर जन्मों के परिवर्तन का ज्ञान कराया। सात वर्ष की आयु में आर्य पदकर ठिनले को शिक्षा अर्पित करके प्रथम उपासक की शपथ ली और कुँगा ग्यछो नाम धारण किया। तदनन्तर उपनयन संस्कार हुआ।

तब कुछ बर्षों तक उपाध्याय के चरणों में सेवा करके साधारणतः शक्ति और आगम विषयों पर गहन उपदेश का श्रवण किया। एकांत में निश्चंचल मन से योगाभ्यास किया जिससे हृदय में अवबोध उत्पन्न हुआ।

बारह वर्ष की आयु में नगरकोट (कांगड़ा) गए। आत्मार्थ और परार्थ वृहत प्राणिधान किए। बराही के अनुग्रह से अग्नि शक्ति प्राप्त हुई जिससे सुख का ताप स्वयंमेव प्रज्वलित हुआ। अंगुष्ठ मरगुल (लाहुल) में ऋद्धि से अभिभूत हुए। एकजटी ने स्वरूप प्रदर्शित करके उनका उद्देश्य सिद्ध कर दिया। मंजुगुहा में वज्रपाणि का प्रगट दर्शन कर उनके रूप को स्व में विलीन किया। पाग-सम येशे आदि कुछ सिद्ध पुरुषों से शक्ति, आगम आदि विषयों पर उपदेश सुने। इस शक्ति से विक्षेप को दूर फैंका और अनिश्चित एकांत स्थलों पर योग का विजय ध्वज उच्छ्रित किया। किरोंग के ठाकुर के पास जाते समय वहां आर्य अवलोकितेश्वर के हृदय से प्रस्रवित होने वाली आभा अपने में लीन कर ली। बज्रासन (बोध गया) को जाते समय भद्रकल्प के रास्ता ने उन्हें अनुगृहीत किया।

इस प्रकार भारत और नेपाल के तीर्थस्थलों को चरणों से स्पर्श करने के पश्चात उनका शरीर अतिसार से ग्रसित हो गया। इसलिए शरीर का मांस सूख गया और चर्म अस्थियों से छूने लगा।

दे-छेन तेङस में देह और आत्मा विलग कर बारह वर्ष तक तपस्या की। भट्टारक गम-त्रोन के पास जाकर पुरुष ने ज्ञानात्मज्ञान नामक प्रवचन और शक्ति, आगम आदि विषयों पर सम्पूर्ण उपदेश दिया। इस प्रकार वे प्रमुख आत्मपुत्र बन गए। तग-सोर यङ-दग जोग में तीन वर्ष के निवास के काल में आठ वर्ष के उर्ग्यन ऋद्धि ने उन्हें अद्भुत धर्म दर्शन कराया। उन्होंने बाह्य अन्तः गुह्य और तीन प्रकार से प्रतीत्य समुत्पात के शतद्वार खोले। डुग-बांग स्वामी के दर्शन के समय

नवीन और प्राचीन पद्धति के शक्ति, आगम आदि विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। जिस प्रकार सूर्यसार एक से एक मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार पिता और पुत्र का हृदय भी मिलकर एक हो गया। चरियु-छो में तपस्या परिनिष्पन्न होने से दो प्रकार के विद्या में पारंगत हुए जिसमें द्वयार्थ स्वतः सिद्ध हुआ। आभास्वर के पराक्रम से देवता के छायाहीन हुए मुख का दर्शन किया। तीन लोकों के इस नायक को मेरा प्रणाम।

वज्र आर्या के आगम की तीन बार व्याख्या सुनाने के पश्चात वे म्रवो-चोग में आए। वहां ञङ-रिग के गुरु छोए-वांग जे से रौद्र, कृष्ण और गहन मार्ग में पूर्ण विद्या प्राप्प की। वहां पर अद्भुत भविष्यवाणी हुई। आत्मार्थ पूर्णतः प्राप्त करके परार्थ करने का समय आ गया। उन्होंने असंख्य भाग्यवान विनयनियों को मुक्त किया। सुप्रतिष्ठित अद्वितीय और आश्चर्यजनक उस परम उत्तम नायक को मेरा प्रणाम!

नेपाल और तिब्बत के सीमाओं को सेतु से जोड़ा। वचन दोष की विश्रांति के लिए स्वर्ण के मण्डल जाते और हार बनाए तथा अन्य जितने भी पुण्यमूल हैं, सबको रोपित किया। तत्पश्चात शुभ कल्याण के लक्षण प्रदर्शित किए। भारत, नेपाल, तिब्बत और उड्डयन जैसे सभी देशों में निर्भय, साहसी, चरण के वीर ये अद्वितीय यति एकांत में भी एकशृंग के समान अकेले भ्रमण करते रहे। परार्थ ध्यान करते हुए वे अकेले पुष्पहरि गए जो छत्तीस लाख गांव के केन्द्र में स्थित है। इसकी सीमा पर छः योजन चौड़ा मैदान है जहां कुकुंम उत्पन्न होता है।

संवत्सर जल-शूकर, दसमें मास के सताईसवें दिन, ठितन विहार के हवा महल में एक अद्भुत दृश्य अकस्मात् घटित हुआ, जब उनकी कायारचना धर्मधातु में सम्मिलित हो गई। इस प्रकार परार्थ की महोर्मि परिपूर्ण हुई। तुम्हारे दर्शनीय, श्रवणीय, स्मरणीय और रक्षतीय चैत्य को जो देखता है। वही अर्थ प्राप्त करता है। जो इसको पूजता है, इसकी पर्युपासना और प्रदक्षिण करता है, उसे परिनिर्वाण पथ पर ले जाने वाले तुम्हें प्रणाम! श्वेताम्बर लिप्त सुन्दर एकीभाव की मूर्ति त्रैलोक्य धर्मराज तुम्हें प्रणाम! मुझ जैसे प्राणी सभी जन्मों में तुम्हारी तरह इस लोक के कार्यों को निष्पन्न कर सकें, स्व और पर के परिनिर्वाण के लिए चार सिद्धांतों से परार्थ समाहृत कर सकें, और अन्य प्राणियों का नायक बनने की क्षमता प्राप्त कर सकूँ। यह अध्येष्ण स्वामी जी के अपने ही शिष्यों में क्षुद्र लुङ ङाग-वांग दोर्जे ने रचित किया है।

के–151, सरोजनी नगर,
नई दिल्ली–23

★●★

पहाड़ी शैली के भित्तिचित्र कनखल में

–डा० दिनेश चन्द्र अग्रवाल

भारतीय चित्र-कला के विकास में परम्परात्मक दृष्टि से पहाड़ी शैली का अपना विशिष्ट महत्व है। इस पहाड़ी शैली में प्रधानतः बसोहली तथा कांगड़ा उपचित्र शैलीयों का ही प्रमुख स्थान है। हिमाचल प्रदेश की बसोहली नगरी में पहाड़ी शैली का अंकुर बसोहली शैली बन फूटा, किन्तु कांगड़ा में उसने अपना परिपोषित, पुष्पित व पल्लवित युवा रूप धारण किया कांगड़ा शैली के रूप में कालान्तर में इसकी शाखाओं का विस्तार गुलेर, चम्बा, मण्डी जम्मू, कुल्लू, नालागढ़ तथा गढ़वाल तक हुआ। किसी जमाने में इन स्थानों पर उत्कृष्ट कोटि के भित्ति-चित्रों द्वारा यहां के भवन अलंकृत थे। किन्तु प्राकृतिक परिवर्तन तथा समय के थपेड़ों से निरन्तर ध्वस्त होने से पहाड़ी शैली की प्राचीनतम परम्परा की छटा प्रस्तुत करने वाली इन कलाकृतियों का अधिकांश सदा के लिए काल कलवित हो गया। इनके शेषांश और परवर्तीहीन स्तरीय के भित्तिचित्रों में आज भी पहाड़ी शली की थकी-थकी सी लुटी हुई छटा विद्यमान है। इतिहास तथा कलामर्मज्ञों की पहुंच इन क्षेत्रों से बाहर न आ सकी। फिर भी पहाड़ी शैली के उत्तम श्रेणी के भित्तिचित्र आज भी उत्तर प्रदेश में स्थित सहारनपुर जनपद के कनखल स्थान में अवशिष्ट प्राचीन वास्तुओं में द्रष्टव्य हैं।

लेखक ने जिला सहारनपुर के भित्ति चित्रों के अन्वेषण व अध्ययन के अन्तर्गत कनखल में भी बड़ी संख्या में पहाड़ी शैली के महत्वपूर्ण भित्तिचित्रों को खोज निकाला है। उक्त अध्ययन पर आधारित, लेखक के शोधप्रबन्ध 'जिला सहारनपुर के भित्तिचित्र' मेरठ विश्वविद्यालय १९७६ में १४ सादे फोटोचित्र तथा ८ रंगीन चित्र पारदर्शी (कनखल के चुने हुए भित्तिचित्रों के) संकलित हैं। इनके अतिरिक्त भित्तिचित्रों का विस्तृत सैद्धांतिक तथा तकनीकी विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दुओं के पवित्र तीर्थस्थल हरिद्वार (हरद्वार) से लगभग ३ किलोमीटर की दूरी पर कनखल स्थित है। पौराणिक व धार्मिक कथाओं के अनुसार प्राचीनकाल से ही कनखल व हरिद्वार हिन्दुओ के महत्वपूर्ण तीर्थस्थान रहे हैं। दूर-दूर से यात्री (साधारण व्यक्ति से लेकर राजा व महाराजा तक) यहां धार्मिक भावनावश अथवा भ्रमण हेतु आते रहते हैं। यह स्थान महादेव शिव तथा पावन गंगा को अत्यादि काल से ही प्रिय रहा है, जिसके फलस्वरुप इसकी महिमा चिरकाल से ही भारत के तीर्थस्थलों में सर्वाधिक रही है। हरिद्वार के बहुत पुराने धार्मिक पण्डा

सरदार रामरखा और पंडित प्यारेलाल की दो सौ वर्षों से अधिक पुरानी बही (एक प्रकार की बृहत सूची जिसमें पण्डे अपनी धर्मशाला में ठहरने वाले प्रत्येक यात्री का ब्योरेवार अता पता लिखते हैं। यह बड़ी सुरक्षित रखी जाती है। इस बही में जिस यात्री का नाम एक बार भी यदि चढ़ जाता है तो उस यात्री के सभी पारिवारिक सदस्यों को धार्मिक अनुष्ठान के लिए उसी बही के धारक पण्डे के पास जाना पड़ता है। ये बहियां पण्डा परिवार में एक के बाद एक दूसरे उत्तराधिकारी को हस्तान्तरित होती रहती हैं) के माध्यम से कांगड़ा, गुलेर, चम्बा तथा अन्य पहाड़ी स्थानों पहाड़ी शैली के चित्रकारों की हरिद्वार यात्रा प्रमाणित होती है। सरदार रामरखा पण्डे की बही का एक नमूना, जो गुलेर निवासी चित्रकार नैनसुख द्वारा लिखा गया है, इस प्रकार है :

गोत्र सांडल–लिखित नैंणा (नैणा) तरखाण चत्रेहरा गोलेर दा वासी। बेटा सेऊएदा। पौत्रा हसनूऐदा। पड़पौत्रा दादे दा। नानका पख लिख्या। प्रोहत हरीराम मन्या। नानादास पड़नाना चुहड़। विध पड़नाना हरिया। जे भाईए माणके दा लिख्या जे दुए प्रोहते कंछ निकले ता सेहे लिख्या दा प्रमाण। एह तकरार करी लिखी दत्ता। संवत १८२० जेष्ट प्रविष्टे १ लिख्या।

ऐसी ही अन्य लिखित जानकारी से पहाड़ी शैली के कुशलहस्त चित्रकारों में मानकू, नैनसुख, खुशाला, रांझा, कामा, देवीदित्ता तथा अन्य चित्रकारों का हरिद्वार आना स्पष्ट प्रमाणित होता है। किन्तु उन दिनों में तीर्थ यात्राएं आज की भांति एक–दो दिन की नहीं हुआ करती थीं। यात्री लोग यहां पर कभी-कभी एक माह तक भी ठहरते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे जब इन यात्री कलाकारों के गुणों और उपयोगिता की जानकारी यहां के मठाधीशों, मन्दिरों के स्वामियों, धार्मिक संस्थानों तथा अन्य अभिजात वर्ग के व्यक्तियों को हुई तो उन्हें भी अपने भवनों को अलंकृत कराने की प्रेरणा हुई। इसके फलस्वरूप कुछ पहाड़ी चित्रकार निस्वार्थ धार्मिक भावना वश या धनिक आश्रयदाता से अच्छा परिश्रमिक पाने के कारण मन्दिरों, मठों अखाड़ों तथा महाजनों की हवेलियों को नयनाभिराम भित्तिचित्रों से सजाने लगे। इसके अतिरिक्त एक और ऐतिहासिक घटना हुई। सन् १८११ ई० में पहाड़ी चित्रकला के महान पोषक कांगड़ा नरेश राजा संसार चन्द ने सिक्खों के राजा रणजीत सिंह के सामने घुटने टेक दिए। विख्यात और अजय कांगड़ा दुर्ग सिक्खों के हाथ में चला गया। किन्तु सिक्ख राजदरबार में तब रंग में डुबी तूलिका के लिए स्थान न था। तलवारों और भालों के बीच तूलिका कब तक ठहर पाती। पराजित संसार चन्द के राज दरबार के अनेकों सेवक तथा कलाकार कांगड़ा छोड़ कर इधर-उधर आश्रय पाने के लिए कूच कर गये। उनमें से कुछ शायद हरिद्वार और गढ़वाल की ओर भी जीविकोपार्जन की आशा से गए थे, क्योंकि यह क्षेत्र अंग्रेजी सत्ता के अधीन होने से कांगड़ा की अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित तथा शान्तिपूर्ण था।

राजा संसारचन्द की मृत्युपरान्त उसके पुत्र अनिरूद्ध चन्द अवशिष्ट राज्य की गद्दी पर बैठे किन्तु उन्हें भी कालातन्र में राज्य छोड़ने को बाध्य होना पड़ा तथा वह शिमला के निकट अर्की में रहने लगे किन्तु जब अर्की भी उनको रास न आया तो हरिद्वार आये। अपने पिता की भांति अनिरूद्ध चन्द में भी कला के प्रति रुचि तथा प्रगाढ़ प्रेम था। इसी कारण वह अपने प्रवास में,

बहुत से उच्च कोटि के पहाड़ी लघुचित्र तथा स्वामिभक्त कलाकार व अन्य सेवकों को भी साथ ले आये थे। इनमें से बहुत से चित्र तथा दो तीन कलाकार अनिरुद्ध चन्द ने अपनी बहिनों के विवाह में राजघराने की परम्परा दहेज के रूप में गढ़वाल राजघराने को अर्पित कर दिए थे। स्मरणीय है कि अनिरुद्ध चन्द जब हरिद्वार में रह रहे थे, तब उन्होंने अपनी दो बहिनों का विवाह गढ़वाल राजपरिवार में किया था। सन् १८३२ ई० में अनिरुद्ध चन्द भी कनखल में ही स्वर्ग सिधार गए। साथ में आए कलाकार अपने स्वामी की मृत्यु से आश्रयहीन होकर जीविकोपार्जन के लिए इस क्षेत्र में राजगिरी, बढ़ईगिरी, नक्काशी व मुस्सवरी का कार्य करने लगे; इस प्रकार यहां के भित्तिचित्र कला की दृष्टि से नहीं, वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इनमें सबसे प्राचीन चित्रों का रचना काल सम्भवतः सन् १७५० है। इन भित्ति चित्रों का निर्माण लगभग १८५० ई० तक होता रहा। यहां के बहुत से प्राचीन चित्र अज्ञानवश, उपेक्षा तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण नष्ट हो चुके हैं। शेष चित्र भी भवनों की दीवारों में आवश्यकता अनुसार हेरफेर या नए दरवाजे और खिड़कियां बनने के कारण लुप्त होते जा रहे हैं।

इन चित्रों का विषय भी परम्परात्मक तथा व्यापक है। इनमें एक ओर धर्म व भगवत् भक्ति को अपनाया गया है तो वहां शृंगार व लोक को भी नहीं भुलाया गया है। पहाड़ी कलाकारों ने चित्रों में राम, शिव, विष्णु को तो स्थान दिया ही है किन्तु परम्परात्मकता तथा स्वभाववश राधा-कृष्ण को ही अपने विषय का सर्वोपरि केन्द्र माना है। यों तो पौराणिक साहित्य के अनेक विषयों को पहाड़ी चितेरों ने चित्रित किया है किन्तु जहां श्रीकृष्ण चरित सम्बन्धी विषय भाव को अभिव्यक्त करना होता है, तो वहां कलाकृतियां भरपूर सजीवता व रंगीनियों के साथ उभर आती हैं। राधा और कृष्ण को लक्ष्य बना कर जीवन की इतनी बहुविध लीलाओं का चित्रण हुआ है कि शायद ही कोई पक्ष छूट पाया हो। एक ओर कृष्ण 'बकासुर वध', 'कालिय दमन' 'गोवर्द्धन धारण' करते हैं तो दूसरी ओर कदम्ब वृक्ष के नीचे वह ग्वाल साथियों से आंख बचाकर काली कम्बली में छिपकर अपनी प्रेयसी 'राधा के साथ प्रेमालाप' करते हैं। कहीं 'नायक नायिका का मिलन' है तो कहीं पर नायिका अपने 'प्रेमी की प्रतीक्षा' में पलकें बिछाए बैठी है। संगीत की कुछ राग-रागिनियों को भी मूर्त रूप प्रदान किया गया है। कहीं पर एक राजा की 'शाहीयात्रा और 'आखेट' का दृश्य है तो कहीं उसे विश्राम के क्षणों में हुक्के का आनन्द लेते हुए प्रदर्शित किया गया है। तत्कालीन अंग्रेजी व्यक्तियों के शबीह भी बनाए गए हैं। प्रतीत होता है कि इन भित्तिचित्रों में चितेरों ने अपने हृदय की श्रद्धा तथा हाथ का कला-कौशल दोनों का ही अनोखा समन्वय संजो दिया है। वे अभिप्रायः आलेखन (मोटिफ-डिज़ाइन) में भी पीछे नहीं थे। चित्रों के बाहर के हाशियों (फ्रेम) दरवाजो की महराबों, छज्जों के साए, खिड़कियों तथा अन्य स्थानों को नयनाभिराम आलंकारिक फूल पत्तियों से गुम्फित बूंटों से आलंकृत किया है। इन अलंकरणों के निर्माण में समआवृति (फारवार्ड रैगुलर रिपिटीशन) तथा विलोमावृति (बैकबार्ड रिवर्स रिपिटीशन) के ढ़ंग को ही अपनाया गया है। स्थापत्य और चित्रण के तालमेल को ध्यान में रखकर स्थान विभाजन (स्पेस डिविजन) तथां संयोजन बहुत उचित ढ़ंग से किया गया है। चित्रों को देखकर प्रतीत होता है कि ये भित्तिचित्र पहाड़ी लघु चित्रों के ही बृहत रूप हैं। अन्तर केवल तूलिका तथा प्रणाली का है। लघुचित्रों में छोटी कोमल तूलिका, जलीय रंगों तथा कागज आदि सामग्री का प्रयोग होता है। भित्तिचित्रों के निर्माण में बड़ी व मोटी तूलिकाओं, विशेष

तकनीक से निर्मित भित्ति सतह तथा खनिज व पत्थरों से निर्मित रंगों का प्रयोग होता है। ये भित्तिचित्र परम्परात्मक विधि पर आधारित भारतीय आला-गीला (फैस्को ब्यूनो) पद्धति पर बनाए गए हैं। चूने के पलस्तर द्वारा ताजी बनी गीली धरातल पर चित्रण कार्य किया गया है। जिसके फलस्वरूप ये चित्र धूप, वर्षा व शुष्क हवा में भी आज तक अपनी अच्छी दशा में हैं। कहीं कहीं तो चित्रित सतह की इतनी अच्छी घोटाई की गई है, कि चित्र चिकने तथा चमकदार बने हुए हैं।

इनमें से कुछ चित्र तो परिपक्व तथा श्रेष्ठ तूलिका संचालन द्वारा बनाए गए हैं तथा कुछ चित्रों में निम्नता का आभास होता है। इनसे कलाकारों की श्रेणियों तथा शैलीगत विभिन्नता का आभास होता है। चित्रों में रंग तथा रेखा का समन्वय एवं सौष्ठव अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ा है। रेखाओं को देखें तो दृष्टि मानों फिसलती हुई, हचकोले खाती हुई आकृतियों की सारी लुनाई व मांसलता को छू जाती है। कहीं पर चित्रों में रेखाएं अटूट, प्रवाह युक्त तथा कोमल हैं जिनसे चित्रस्थ आकृतियों में नयनरम्यता तथा लावण्यता का समावेश हुआ है तो कुछ चित्रों में वे बसोहली की रेखाओं की भान्ति गम्भीर, कुछ कठोर तथा ओज पूर्ण होकर आकृतियों में गरिमा तथा सरलता का पुट डाल देती हैं। आकृतियों में साया लगाने का अभाव है। पृष्टभूमि सपाट है या कहीं पर एकाध पुष्पित वृक्ष का विषयानुकूल पहाड़ी शैली का परम्परात्मक आलंकारिक रूप देखने को मिलता है। चित्रों के शैली विधान में अधिकांश कांगड़ा शैली का तथा अल्पांश बसोहली शैली का स्पष्ट प्रतीत होता है।

लेखक द्वारा सूचित करने पर भी भारतीय पुरातत्व विभाग ने इन कलाकृतियों की सुरक्षा (कंज़र्वेशन) हेतु कोई कदम नहीं उठाए। इनकी अनुकृतियां करवा कर या ज्यों का त्यों (राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित चम्बा के भित्तिचित्रों की भांति) भित्ति सतह उतरवा कर किसी संग्राहलय में सुरक्षित कराया जाना चाहिए। हिमाचल प्रदेश के पुरातत्व विभाग अथवा अन्य संस्थान को भी इस ओर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि ये कलाकृतियां अपने भीतर एक इतिहास संस्कृति तथा पहाड़ी शैली के दुर्लभ सौंदर्य को छुपाए हुए पड़ी हैं तथा धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। और अब तो सिसकते हुए ये भित्तिचित्र और इनके अतीत की साक्षी पुण्य तोया गंगा अपने ऊपर से गुजरे हुए जमाने की गाथा सुनाते रहते हैं।

8, कालिज क्वार्टर्स,
प्रद्युमन नगर
सहारनपुर (यू० पी०)-247001

हिमाचल प्रदेश का प्रसिद्ध लोक गीत
फुलमू और रांझू

—शशिकान्त शास्त्री

बाड़ूए मुश्राड़ूए तू कजो झांकदी
झंखां कजो मारदी
दो हत्थ बूटणे दे लायां फुलमों
गल्लां होई बीतीश्रां ।

इस गीत के बोल भला श्राप बतायें किस को मालूम नहीं । हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिले के गांव के उन दो प्रेमियों की प्रणय कहानी से सम्बन्धित है जो इस प्रकार है महान :

फुलमू चम्बा के बधेरन क्षेत्र के एक ग्राम की सुन्दरी थी । सोलह वर्ष की श्रायु चमचम करता रूप, चहकती, दहकती जवानी । जब भेड़ों का रेवड़ लेकर निकलती तो एक बार उसके मुँह की श्रोर देखते श्रौर उसके रूप की सराहना करते । काले-काले लम्बे बाल चांद जैसा मुखड़ा माथा खंजन की तरह नाचती हुई श्रांखें तीखी नाक, लाल होंठ, गोल ठोडी श्रौर सेब जैसे गुलाबी गाल उसकी चाल मानों हंसनी चल रही हो । एक दिन फुलमू बावली पर पानी भरने गई । उसने घड़ा पानी में डुबोया श्रौर कल-कल शब्द हुश्रा । पानी से भरा घड़ा उठाने को ही थी कि क्या देखती है कि एक सुन्दर युवक कसीदा की हुई बेल बूटों वाली टोपी पहने, बांसुरी हाथ में लिए उसकी श्रोर श्रांखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है । एक दूसरे को देखते ही दोनों में प्रेम हो गया । मुँह से कोई बात नहीं निकली, बस श्रांखों ने ही वह सब कह दिया ।

फुलमू को पता चला कि यह नवयुवक साथ वाले गांव के नम्बरदार लछमन का लाडला बेटा 'रांभू' है । इसके बाद तो, जहां फुलमू की भेड़ें चरने जातीं रांभू श्रपनी बांसुरी के साथ श्रा धमकता श्रौर मधुर धुनों से उसे मोहित करता । वायु बांसुरी के मधुर संगीत से भर-भर जाती । नीली घटनाश्रों में बगुले बड़ सुन्दर लगते हैं पर जिसने श्रपनी प्रेयसी की काली-काली श्रांखों की गहराइयों में झांका है उसके लिए घटनाएं क्या चीज हैं । दोनों ने एक दूसरे को वचन दिए सौगन्धें खाई कि मरेंगे तो एक साथ जियेंगे तो एक साथ ।

फुलमू के पड़ोस में एक तेली का घर था एक दिन रांभू सरसों लेकर तेली के यहां तेल निकलवाने श्राया । क्या देखता है कि फुलमू त्रिझन में बैठी चरखा कात रही है । लड़कियों में

बैठ कर वह 'त्रिभन' की रानी लग रही थी। उसकी गोरी गर्दन पर बंधा काला डोरा बड़ा सुन्दर लग रहा था। और जब वह हंसती, उसके मोतियों जैसे दांत ऐसे लगते जैसे बाग में चम्पा खिली हो, रांझू को देखकर उसको कातना भूल गया और पूनी हाथ में रह गई। तेली समझ रहा था कि यजमान सरसों की पिलाई देख रहा है, पर उसकी आंखें तो फुलमू के चेहरे पर गढ़ी हुई थीं। दोनों एक दूसरे की ओर देखते पर बोल कुछ न पाते कि कहीं प्रेम का भेद खुल न जाए। लज्जा के मारे फुलमू का मुंह लाल हो गया। एक रंग आता एक जाता।

एक बार दोनों की, दाने, भुनवाने के भाड़ पर भेंट हो गई। फुलमू की सहेली इन्दरदेई मक्की के दाने भुनवाते हुए कहारी से कह रही थी कि खिल्लें और करारी भून दे। इश्क, मुश्क छिपे नहीं रहते। गांव में रांझू तथा फुलमू के प्रेम की चर्चा अब हर किसी की जबान पर थी लोग रांझू को बार-बार फुलमू की गली में देखते कभी वह भेड़ों का मोल करने आ जाता, और कभी दूध खरीदने के बहाने। रांझू के पिता को पता चला उसने लड़के को समझाने की कोशिश की, कि फुलमू एक गड़रिये की लड़की है, और वह उससे शादी नहीं करने देगा। इसमें उसके खानदान की हेठी है। वह नम्बरदार है बीस बीघों का स्वामी, और फुलमू का बाप भेड़ें चराने वाला जिसके पास पचास भेड़ें तथा एक गाय बस एक झोंपड़ी जिसमें कुटुम्ब रहता है। लछमण ने धमकाया कि यदि रांझू अपने निश्चय से न टला तो वह अपनी जायदाद उसके छोटे भाई के नाम कर देगा इस बात का भी रांझू पर कोई प्रभाव होता न देख कर उसने जल्दी-जल्दी एक दूसरे गांव की लड़की देखकर, उसका रिश्ता तय कर दिया। रांझू की सगाई हो गई। इतना ही नहीं उसने रांझू के ब्याह की तारीख भी पक्की कर ली। बाप की डांट-फटकार सुनकर रांझू दुविधा में पड़ गया। एक दिन वह खेतों की ओर निकल गया। मक्की के भुट्टे पक रहे थे और उनके सूत काले हो चले थे। प्रेम की मारी फुलमू भी रांझू की तलाश में नदी की ओर चल पड़ी। आखिर उसको रांझू एक पेड़ के नीचे बैठा दिखाई दिया। उसके चेहरे पर भी उदासी छाई हुई थी और उस पर चिन्ताओं के बादल मंडरा रहे थे। फुलमू बोली ए मेरे सरताज! हृदय के स्वामी! चल यहां से निकलकर अमृतसर चले जाएं वहां तू नौकरी कर लेना। मैं तेरे लिए रोटी बनाऊंगी जब तू थक कर आएगा, मैं तेरी सेवा किया करूंगी। मुझ से शहरों की नौकरी नहीं हो सकेगी शहरों की तंग गलियां और शोर गुल में तो मेरा दम घुटता है। मैं तेरे बिना नहीं रह सकता। जब तू मेरे पास नहीं होता मुझे सब सूना-सूना लगता है, और मेरा जी नहीं लगता जब मन कुछ हल्का हुआ तो गिरती पड़ती घर लौट आई भोर होते ही फुलमू की पड़ोसिन सन्तों आई बोली अरी फुलमू क्या तुझे मालूम है कि रांझू के ब्याह की तैय्यारियां हो रही हैं और आज उसे उबटन लगाया जाएगा। यह सुनते ही फुलमू को लगा जैसे उसे सांप सूंघ गया है। उससे कुछ कहते न बना। जब ढोलक की आवाज आई तो दौड़ी-दौड़ी नम्बरदार के घर गई। रांझू की ताई चाची भाभियां और पड़ौसिनें उबटन मल रहीं थीं मां बाप की दिन रात की सीख से बश में किया हुआ रांझू उसको देखकर खिसिया गया और बोला फुलमू! खड़ी-खड़ी क्या देखती है। मुझे उबटन क्यों नहीं लगाती।

बूटणा लगाण तेरी ताई चाचीयां
रांझू सकी भावीयां

कुणी बाह्मणे तेरा विग्राह लिखिग्रा
उसी वी ना पाए परमेसर पूरी
कुले दे परोहते मेरा विग्राह लिखिग्रा
बापूए कित्ती कड़माई
गल्लां होई बीत्तीयां

उसकी घबराहट और करूणा को देखकर पहाड़ भी रो उठे और वृक्षों ने सहानुभूति में अपने पत्ते गिरा दिए फुलमू को बड़ा अघात पहुंचा था और उसकी सब आशायें मिट चुकी थीं। दिया बुझ गया और उसके साथ ही उसकी सब इच्छाएं आकांक्षाएं भी बुझ गई नींद क्या आती भूखी, प्यासी, रोती और सुसकती कच्चे फर्श पर लेट गई और काला कम्बल ऊपर ओढ़कर मुँह ढक लिया। अगले दिन दूर से नरसिंगे की आवाज और ढोल सुनाई दी। रांझू सेहरा बांधे पालकी में बैठा आगे-आगे जा रहा था पिता और सम्बन्धी पीछे-पीछे चल रहे थे। रांझू क्या देखता है। कि चार जन एक अर्थी को उठाए राम नाम सत्य है कहते जा रहे हैं ध्यान से देखा उसने पहचाना कि फुलमू का पिता और भाई हैं। उन्हे देखकर वहां हक्का वक्का रह गया और चेहरे पर हवाईयां उड़ने लगी। उसका पुराना दबा हुआ प्यार फूट कर बाहर आ गया। कहारों से कहा कि पालकी नीचे रख दो।

बाहरे बाहरे रांझू दी जानी चली,
भाईयो डोला चलेया
बाहरे बाहरे फुलमो दी लाश चली
गल्लां होई बीतीग्रां
रखो ते कहारो मेरी पालकीग्रा
रखो पालकीयाँ
फुलमों जो दाग लगाणा जानी
गल्लां होई बीतीग्रां।

इतनी देर में फुलमू की अर्थी चिता पर रख दी गई। रांझू ने कफन उठाया और अपनी प्रेमिका का चेहरा देखकर धाड़ मार कर रोने लगा। उसने फुलमू की चिता में आग लगाई, और पास बैठ कर फफक-फफक कर रोता रहा।

बाएं हत्थें रांझू चिता जो चिणी
रांझू चिता जो चिणी
दैहणे हत्थे लाईया लाम्बू भाईयो
गल्लां होई बीतीग्रां
दोस्ती नी लाणी फुलमों कच्चियां कनें

जानी कवारिम्रां कनें
बिम्राही करी हुन्दे बेईमान सईम्रो
गल्लां होई बीतीम्रां ।

लपटें आसमान से बातें कर रही थीं, और उसकी प्रेमिका की काया तिल-तिल जल रही थी। रांभू से रहा न गया उसने सेहरा उतार कर आग में फैंक दिया और स्वयं भी जलती चिता में कूद पड़ा। लोगो ने देखा मानो आग की लपटों में फुलमू का चेहरा खुशी से खिलखिलाकर हँस रहा था। जैसे कह रहा हो :

मुझे बड़ी खुशी है कि हम दोनों फिर इकट्ठे हो गए।

राजकीय माध्यमिक विद्यालय
हारसी जिला कांगड़ा–176091

कांगड़ा के मेले और उनका महत्व

–हरिकृष्ण मुरारी

धौलाधार के आंचल में स्थित कांगड़ा की सुरमय घाटी अपने में अनेक प्रकार की विशेषताओं को समेटे मुस्कराती दृष्टिगोचर होती है। इसकी इन्हीं विशेषताओं में मेलों को महत्व देना असंगत नहीं होगा क्योंकि यहां वर्ष भर कहीं न कहीं, किसी न किसी प्रकार का मेला अवश्य लगता है तथा प्रत्येक मेला अपना कोई न कोई महत्व भी अवश्य रखता है।

मेला शब्द की उत्पत्ति 'मेल' अर्थात् 'मिलन' या 'मिलाप' शब्द से हुई है। अब तो युग बदल गया है। विज्ञान प्रत्येक क्षेत्र में दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रहा है। परन्तु...प्राचीन समय में जब न सड़कें थी और न ही किसी प्रकार का वाहन होता था। अधिकतर लोग पैदल ही यात्रा किया करते थे। जो लोग सम्पन्न होते थे, वह घोड़ों पर या उनसे चलने वाले प्राचीन वाहनों, जैसे रथ, तांगा इत्यादि पर यात्रा किया करते थे। तब जनसंख्या भी बहुत कम थी। जिन शहर बाजारों को हम आज देख रहे हैं वहां कभी कौए दोला करते थे। अपने रिश्तेदारों एवं मित्रों आदि से मिलने का एकमात्र यही साधन होता था 'मेला' इसी बहाने सभी मिला करते थे। उन दिनों शहर दूर-दूर हुआ करते थे। मेलों में हर प्रकार की दुकानें सजती थीं। (अब भी सजती हैं।) लोग दूर शहरों में जाने की आपेक्षा इन्हीं मेलों में आवश्यक वस्तुओं को खरीद लिया करते थे।

यह तो था 'मिलाप' शब्द से 'मेला' शब्द का जन्म। इसके अतिरिक्त इनमें जो सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व है, उसे किसी भी प्रकार से अलग नहीं किया जा सकता। वह कोई भी मेला ऐसा नहीं हैं, जिसका कोई भी ऐसा महत्व न हो।

यहां कई प्रकार के मेले लगते हैं। इन्हें हम पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं :
१. छिंज मेले २. रली मेले ३. बार ४. नवरात्रा मेले ५. विविध।

१. छिंज मेले :

ये मेले प्रत्येक वर्ष चैत्र (फरवरी, मार्च) मास में लगते हैं। कांगड़ा घाटी का कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहां छिंज न होती हो। यह मेला अधिकतर दो दिन तक चलता है। कहीं-कहीं एक दिन तक भी चलता है। इसे स्थानीय बोली में लौहू की छिंज (छोटी छिंज) तथा बड्डी छिंज (बड़ी छिंज) के नाम से पुकारा जाता है।

किसानों का एक देवता होता है। जिसे स्थानीय बोली में 'पीर' अथवा 'जक्ख' के नाम से पुकारा जाता है। ये छिंजें इसी देवता के नाम पर लगती हैं। मेले में पहलवानों की कुश्तियां होती हैं। दूर-दूर से पहलवान आते हैं। गांव के मुख्य लोग ढाल (चन्दा) इकट्ठा करते हैं तथा कुश्ती करने वाले पहलवानों को पारश्रमिक रूप में कुछ पैसे तथा गुड़ का प्रसाद देते हैं। कहीं एक या दो गांवों की तथा कहीं दस-दस गांव की इकट्ठी छिंज होती है।

में मेले चैत्र मास की सक्रांत (देसी महीने की प्रथम तिथि) को आरम्भ हो जाते हैं। कांगड़ा घाटी के प्रत्येक स्थान पर पूरा महीना छिंजें होती हैं। इनमें कुछ स्थानों पर छोटे-छोटे मेले होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहां हजारों की संख्या में लोग इकट्ठे हो जाते हैं। इसमें शाहपुर, रक्कड़, खनियारा, दाड़ी, लिदवड़ (नगरोटा बगवां) लंज इत्यादि स्थानों की छिंजें विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

जब लोग मस्त होकर कुश्तियां देखते, टमकों को बजाते, छंझोटियां गाते, झूमते हैं तो हमें अपनी संस्कृति के स्पष्ट तथा जीवित दर्शन होते हैं। अब छिंजों में टमकों को बजाने एवं छंझोटियों गाने का रिवाज दिन-प्रति-दिन लुप्त होता जा रहा है। आवश्यकता है इसके संरक्षण की अन्यथा यह समस्त संस्कृति की झलकियां समय के साथ, बहुत शीघ्र ही लुप्त हो जाएगी।

२. रली मेले :

ये मेले बैशाख महीने के आरम्भ में स्थान-स्थान पर मनाए जाते हैं। चैत्र मास में लड़कियां रली तथा शंकर की पुजा करती हैं। इनकी मूर्तियां बाजार में मिल जाती हैं। लड़किया इन मूर्तियों को महीना भर घर में रख कर पुजा करती हैं। अन्ततः मेले वाले दिन इन मूर्तियों को निकटवर्ती नदियों (छोटी-छोटी खड्डों) में प्रवाहित कर दिया जाता है। इसलिए ये मेले नदियों के किनारों पर ही लगते हैं। इन नदियों में बंडेर, (कांगड़ा शहर के निकट) गज रजोल के पास तथा चड़ी (धर्मशाला सड़क पर) खौहली (शाहपुर) तथा रैत के मध्य पड़ने वाली खड्ड मनूणी, (मटौर) मांझी (गगल) बराहल (त्रिलोकपुर) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

समय की तीव्र गति के साथ-साथ अब इन रली मेलों की रौनक भी घटती जा रही है। इसके संरक्षण की भी कितनी आवश्यकता है। दिन प्रतिदिन विचारणीय विषय बनता जा रहा है।

३. बार :

ये मेले यहां के लोक जीवन में अत्यन्तमहत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनमें नाग, नागनी, सिब्बोथान तथा चामुण्डा माता के बार प्रसिद्ध हैं। ये मेले बरसात में लगातार बार के अनुसार दो माह तक चलते हैं। नाग तथा नागनी के वार शनिवार एवं मंगलवार माने गए है, परन्तु शनिवार मंगलवार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इनमें नाग के वार रानीताल में तथा वहीं से लगभग दो किलोमीटर दूर नाग नामक स्थान पर लगते हैं। नागनी के वार भडवार के निकट नागनी नामक स्थान पर लगते हैं।

सिब्वोथान और चामुण्डा के बार मेले सोमवार को लगते हैं। चामुण्डा माता को देवी रूप में माना जाता है, तथा नाग, नागती और थान को यहां के लोक देवता के रूप में माना जाता है। इनका यहां के लोक जीवन से, विशेषकर किसान जीवन से गहन सम्बन्ध है।

चामुण्डा माता के बार चामुण्डा नामक स्थान पर तथा सिब्रोथान के बार ज्वाली के निकट भरमाड़ (सिब्रोथान) नामक स्थान पर लगते हैं।

प्रसन्नता की बात है कि इन मेलों का महत्व दूसरे मेलों की अपेक्षा दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। फिर भी इन पर सरकारी नियन्त्रण की अधिक आवश्यकता है।

४. नवरात्रा मेले :

ये मेले वर्ष में दो बार आते हैं। यहां पर ये ज्वाला मुखी, कांगड़ा, कनाल पथरी तथा चामुण्डा नामक स्थानों पर लगते हैं। इनका सांस्कृतिक महत्व तो है ही परन्तु धार्मिक महत्व भी अधिक है। भारत के प्रत्येक कोने से श्रद्धालू माता के दर्शन करने लाखों की संख्या में पहुंचते हैं। इन दिनों भीड़ इतनी होती है कि कमजोर व्यक्ति तो लांघ भी नहीं सकता। इन दिनों रौनक देखने योग्य होती है। इन मेलों के इस धार्मिक महत्व को मदयनजर रखते हुए सरकारी संरक्षण की अवश्यकता अनुभव होने लगती है। क्योंकि माताओं के मदिन्रों में चढ़ने वाला लाखों का चढ़ाता सही अर्थों में प्रयोग हो सके।

५. विवध :

पांचवें स्थान पर आने वाले मेलों में अनेक प्रकार के मेले आ जाते हैं। जैसे : होली महाशिवरात्री, दीवाली और दशहरा इत्यादि। इनका इतिहास एवं संस्कृति के साथ प्राचीन काल से ही गहरा सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोक मेले भी विशेषतः प्रसिद्ध हैं। इनमें देहरे (रैत) का मेला टल्ह माता का मेला, डले (डल का मेला) का मेला इत्यादि आते हैं। देहरे दा मेला राजा राज सिंह के स्मरण में मनाया जाता है। उन दिनों यह स्थान (देहरा) चम्बा रियासत के अधीन होता था। चम्बा का राजा राजसिंह इसी स्थान पर अपने पड़ोसी कटोच राजा से ढाई घड़ी बिना खोपड़ी के लड़ता रहा। इसीलिए प्रत्येक वर्ष आषाढ़ महीने के सात प्रविष्टे को यह मेला लगता है। जिसमें दूर-दूर से लोग आते हैं। अधिकतर गद्दी लोग पट्टू (ऊनी कम्बल) लेकर आते हैं तथा बेचते हैं। अनेक प्रकार की दुकानें लगती हैं। ये दुकानें सप्ताह भर पहले ही लगनी आरम्भ हो जाती हैं। मेले वाले दिन तो पूरा कस्बा, सड़क के दोनों ओर दुकानों से सजा, लोगों की चहल-पहल से भरा मन में बीर राजा की स्मृति को ताजा कर देता है।

राजा की याद में देहरा में एक प्राचीन मन्दिर भी है। जहां पहले सभी लोग जाते थे और भेंट रूप में कुछ अन्न तथा पैसे चढ़ाते थे। अब ऐसा देखने में कम ही आता है। इसके इस एतिहासिक महत्व को सुरक्षित करने के लिए अधिक से अधिक सरकारी सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है ताकि यह वीरता भरा स्मरण सुरक्षित रह सके। इसके संरक्षण में जो भूमिका

डा० गौतम शर्मा व्यथित जी निभा रहे हैं। उसका वर्णन यदि स्वर्ण अक्षरों में भी किया जाए, तो भी कम है।

इसके अतिरिक्त डल तथा टल्ह का भी अपना-अपना महत्व है। टल्ह माता है। इसे देवी रूप में माना जाता है तथा ये मेला बैशाख महीने के आठ प्रविष्टे को अनेक स्थानों पर जैसे—रैत शाहपुर, हटली तथा टल्ह में लगता है १६४७ से पूर्व हटली (द्रमण) नामक स्थान पर देशी शराब की भट्टियां हुआ करती थी। टल्ह से लौटकर लोग इसी स्थान पर शराब पीते तथा मस्ती में झूमते गाते अपने-अपने घर पहुंचते थे। कुछ लोग इतनी पी लेते थे कि सड़कों के किनारे पड़े हुओं के मुंह को कुत्ते चाटा करते थे। कितनी बुरी बात थी। अब भी ऐसा होता है परन्तु अब भट्ठियां नहीं हैं अतः ठेके हैं। जहां से पियक्कड़ पीकर पागल बन जाते हैं। यह बहुत बुरी बात है। इस पर नियन्त्रण होना चाहिए।

इसके बाद बरसात में डल का मेला लगता है। यह मेला मणिमहेश के मेले वाले दिन ही लगता है कहते हैं—मणिमहेश के सरोवर का पानी इस डल झील से निकलता है यह मेला शिवजी के स्मरण में लगता है। कोतवाली बाजार धर्मशाला से आरम्भ होकर डल तक मेला लगता है। इसमें मकलोड गंज तथा भागसू नाथ भी आ जाते हैं। बड़ा प्रसिद्ध मेला है हजारों की संख्या में इस मेले का आनन्द लेते हैं।

मेले तो लगते हैं परन्तु आवश्यकता है सम्पूर्ण सरकारी नियन्त्रण की ताकि हमारी धरोहर प्राचीन संस्कृति धर्म एवं इतिहास जीवन्त बना रहे। अन्यथा हम सब पाश्चात्य सभ्यता के गर्त में गिरकर नष्ट भ्रष्ट हो जाएंगे।

चिन्तन कुटीर रैत–१७६२०८
जिला कांगड़ा (हि०प्र०)

बाड़ी धार मेले की कथा

—कृष्णसिंह कंवर

हिमाचल प्रदेश मेलों-त्यौहारों की भूमि है। बर्फ से ढकी पहाड़ों की ऊंची चोटियों, घने देवदार वृक्षों तथा चन्द्रभागा, व्यास और रावी जैसी नदियों ने इस राज्य को औदार्य सहजता दी है। सोलन, बिलासपुर, सिरमौर और चम्बा जैसे क्षेत्र हिमाचल प्रदेश की प्राकृतिक रमणीयता को और भी गाढ़ा बनाते हैं। बोलियों और वेषभूषा का वैविध्य लोकजीवन में व्याप्त सदियों पुरानी मान्यताएं, रीति रिवाज और नये विश्वास इस राज्य की परिकल्पना को पहाड़ी और मैदानी संस्कृति से अनुरंजित करते हैं।

त्यौहार तथा मेले मानव की सामाजिक वृति के प्रतीक होते हैं। जीवन के संघर्षों से विराम लेने और विजय के अवसरों पर आनन्द प्राप्त करने के लिए सामूहिक गीतों, लोकनृत्यों, पर्वों और मेलों का प्रचलन हुआ है। हिमाचल प्रदेश के जिला सोलन की तहसील अर्की में बाड़ी धार में शंकर जी के मन्दिर में बाड़ा देव का मेला लगता है। यह मेला हर वर्ष जून मास में बड़ी धूम धाम से मनाया जाता है। कहते हैं कि कौरवों तथा पांडवों का जब युद्ध हुआ तो पांडवों ने भगवान शंकर की उपासना करनी चाही। वे शंकर को खोजते-खोजते जिला सोलन के बाड़ी धार नामक स्थान पर पहुंचे तो शंकर को पता चला कि पांडव उसे खोजते आ रहे हैं। शंकर जी ने भागने की कोशिश की तो अर्जुन डवारी (मंडेंरना) की ओर से आया, भीमसेन बुईला से, नकुल, सहदेव तथा युधिष्ठर देवथल की ओर से आए। शिवजी भागने लगे तो भीमसेन ने पहाड़ पर मुक्का मारा और शंकर जी लोप होकर लिंग के रूप में विराजमान हो गए। बाड़ी धार एक रमणीक व स्वास्थ्य वर्धक स्थान है। लोग इस मेले में दूर-दूर से विभिन्न प्रकार की वेष-भूषा में सजधज कर मेले में आते हैं तथा अपने सगे सम्बन्धियों से मिलकर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। पांच स्थानों से बाड़ादेव की मूर्तियां इकट्ठी होती हैं। लोग इन मूर्तियों को पालकियों में सजाकर गाजे-बाजे के साथ जिसमें ढोल, नगारा, घण्टी, टाऊकली, घड़माल, नरसिंगा, शहनाई, भाना आदि साज बजाते हुए भगवान के साथ आते हैं। लोगों का विश्वास है कि बाड़ादेव उनकी मनोकामना पूर्ण करता है। यह अर्की तहसील का सुप्रसिद्ध मेला है। इन पांचों पांडवों के साथ इनके नौकर भी साथ आते हैं। ये गण मांसाहारी कहे जाते हैं। लोग बाड़ा देव को कना, बैष्णव भोजन चढ़ाते हैं तथा गणों के लिए भैंसा काटते थे। जब से राजाओं के राज समाप्त हुए तो भैंसा काटना बन्द कर दिया गया तथा इसके स्थान पर बकरे की बलि देनी शुरु कर दी जो कि अब तक चली आ रही है। भैंसा काट कर लोग गणों को फेंकते थे। उनका विश्वास था कि इससे गण खुश होकर बाड़ा देव से लोगों को सुख की राहत दिलाएंगे थे।

वाड़ीधार में बाड़ा देव का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब अर्की वाघल रियासत थी तब वहां के राजा के स्वर्गवास होने पर पूरी रियासत में शोक मनाने का आदेश हुआ। शोक में किसी भी प्रकार के मेले तथा गाने बजाने न मनाने का आदेश हुआ। इन्हीं दिनों बाड़ी का मेला भी आता था। लोग डर रहे थे कि मेला नहीं मनाया जाएगा। इस पर स्वयं ही ढोल नगारे बजने शुरु हो गए और राजा को स्वप्न हुआ कि शोक आदेश समाप्त करने मेरे मेले की तैयारी करो वरना मैं विनाश कर दूंगा। राजा ने मेला मनाने का आदेश दे दिया तथा मेला धूम-धाम से मनाया गया। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों के शासन काल में अंग्रेज़ लोग सोलन होते हुए बाड़ी धार पहुंचे और इस सुन्दर स्थान पर नगर बसाने के लिए सर्वेक्षण करने लगे। इस पर बाड़ा देव ने अनेक प्रकार की मधुमक्खियां अपनी शक्ति से अंग्रेजों पर छोड़ी। अंग्रेज अपनी जान बचाकर भाग गए।

बाड़ी धार में अधिकतर कैल तथा बान के सुन्दर वृक्ष हैं। चमत्कारी जड़ी बूटियां भी इस बाड़ा देव की कृपा से यहां पर देखने को मिलती हैं। सरयाज से ऊपर ठण्डे पानी के चश्मे देखने को मिलते हैं। बाड़ी धार की चोटी पर बहुत बड़ा मैदान है जहां पर यह मेला लगता है। इस चोटी पर से जिला बिलासपुर का शहर, नैनादेवी का मन्दिर, नंगल, भाखड़ा, पंजाब आदि स्पष्ट रूप में दिखाई देते हैं। लोग कहते हैं कि पांच पांडवों की बहन जो उनके साथ रहती थी वह एक दिन कहने लगी कि मैं यहां नहीं रहुंगी। जब वह न मानी तो भीमसेन ने एक थप्पड़ लगाया और उसका मुंह टेढा कर दिया। उसका भी बाड़ी धार में मन्दिर है और इसको लोग बुढ़ा देवी के नाम से पुकारते हैं। मेले के दिन लोग घरों से गेहुं, चांदी के छत्तर, दुपट्टे इस बुढ़ा देवी को चढ़ाते हैं तथा यह उनकी मनोकामना पूर्ण करती है।

शाम चार बजे के समय बाड़ा देव के पुजारी लाईन में बैठ जाते हैं और बजंतरी अपने साज ढोल वगैरा बजाने शुरु करते हैं। साज बजते ही यह पुजारी तथा बाड़ा देव के भगत अपना सिर हिलाकर खेलना शुरु कर देते हैं। जब वे खेलना शुरु करते हैं तो लोग उनसे कई प्रकार के प्रश्न पूछते हैं तथा वे प्रश्नों का उत्तर देते चलते हैं। इसके बाद ढोल बजाने वाले तथा घण्टी बजाने वाले आगे-आगे चलते हैं तथा पीछे-पीछे दस-बीस आदमी बकरे को रस्सी से बांधकर पूरे मेले के मैदान का चक्कर लगवाते हैं और शंकर जी के मन्दिर के सामने जहां लोग पहले भैंसा काटते थे उस स्थान पर उस बकरे को काटते हैं। तब वहां का पुजारी अपने हाथ की अंगुलियों से खून को अपने माथे तथा आंखों पर लगाते हैं। बाद में बकरे के धड़ को ऊंची चोटी से जंगल की ओर फैंक देते हैं और कहते हैं कि एक घण्टे के अन्दर-२ बाड़ा देव के गण व नौकर उस बकरे के मांस को खा जाते हैं। इस प्रकार बाड़ी मेले की प्रथा चली आ रही है।

बाड़ा देव के मैदान में शंकर का एक बहुत बड़ा धूना भी बना हुआ है जिसमें लोग मेले के पहले दिन बान के बड़े-बड़े लक्कड़ काट कर धूने में जला देते हैं तथा रात-भर अखण्ड कीर्तन करते रहते हैं तथा खीर हलवा आदि बनाकर रात को सब लोगों को प्रशाद रूप में बांटते हैं।

सुबह होते ही धुना शान्त कर दिया जाता है। इसकी राख को तिलक के रूप में अपने मष्तक पर लगाते हैं तथा यह विश्वास रखते हैं कि वर्ष भर किसी भी प्रकार का दुःख तिलक लगाने

वाले को नहीं सताएगा । दिन के ग्यारह बजे से इस मैदान में बाड़ा देव की पालकियां आनी शुरु हो जाती हैं । दो बजे तक सभी पालकियां मेले में पहुंचा जाती हैं । लोग झुण्डों में चलते फिरते दिखाई देते हैं हरेक आदमी, महिला व बच्चों के मुंह पर मुस्कराहट नजर आती है । लोक यहां के लोक गीत, गंगी को आनन्द से गाते हैं और झूलों में झूलते रहते हैं । गंगी में आठ-दस आदमी एक तरफ और आठ दस महिलाएं दूसरी तरफ आपस में गीत के सवाल जबाव करते हैं । आदमी गाते हैं :—

तेरे आँगना चाके घड़ने
पारना ते बार बे आईजा असां गलां बे खड़ाके करने ।

फिर महिलाएं गाती हुई जबाव देती हैं :

पाणी भरी लेना कुपयिा कनें,
चुपा जाना रहया छोरुआ, दन्द भम्नी देउगी मुक्किया कनें ।

फिर पुरुष गाते हैं :

तेरे हारा रीया सात लड़ीया
तेरा पीच्छा नहीं ओ छडणा, चाहे लगी जांगी हत्थ कड़ियां ।

फिर महिला कहती है :

चिट्ठी लिखणे रा पेन देई जा,
केई जाऊ केसगे बोलूं, माखे मिलने रा टाइम देई जा ।

इस प्रकार लोग गीतों में झूम कर मेले का आनन्द लेते हैं । मेलों में हलवाइयों की दुकानें तथा स्वांग तमाशे बहुत होते हैं । यहां के एक कलाकार ने इस पर एक गीत भी तैयार किया है । जिसे आकाशवाणी शिमला से भी कई बार लोग सुनते हैं । इसके बोल इस प्रकार हैं :—

बाड़ीआ रे मेले खे आयां मेरी जान,
अपना वायदा निभायां मेरी जान, बाड़ीया रे मेले ....

गोरा-गोरा मुख तेरा पुण्या रा चन्द्रमा, नके बालू पाया मेरी जान ।
बाड़ीया रे मेले खे आयां मेरी जान, अपना वायदा निभायाँ मेरी जान ।
बैरी जमाना आसा मिलने नी देंदा बे,
आपु तो आई के मिलयां मेरी जान,
बाड़ीया रे मेले खे आयां मेरी जान, अपना वायदा निभामा मेरी जान ।

बाड़ीया री धारा दे पंच्छी उडो डारा दे—
आईजा प्यार करना तू बाड़ीया री धारा खे,
बाड़ीया रे मेले खे आयाँ मेरी जान, अपना वायदा निभायां मेरी जान ।

इस गीत का अर्थ है कि एक प्रेमिका अपने सज्जन से गीत में कहती है कि वाड़ी का मेला आया हुआ है। मेरी जान तू मेले में आना और जो तुमने मुझ से वायदा किया है उसे पूरा करना तेरा मुख गोरा-गोरा है। नाक में बालू पहना है। ऐसे लगता है जैसे कि पुणिमा का चान्द हो। यह जमाना वैरी है। हमें आसानी से मिलने नहीं देता है। तुम अपने आप आकर मिल लो।

शाम पांच बजे के बाद जिस प्रकार बाड़ा देव की पालकियां सज्ज-धज्ज कर मेले में आई थी उसी प्रकार अपने स्थानों को वापिस हो जाती हैं। इस मेले के आठ दिन पहले से बाड़ा देव के स्थान पर सुबह शाम ढोल-नगारे वजने आरम्भ होते हैं जोकि मेले की समाप्ति पर समाप्त हो जाते हैं। यह बाड़ा देव का मेला जिला सोलन के मेलों में सबसे मशहूर मेला है। मेले के प्रवन्ध के लिए सरकार की ओर से पूर्ण प्रवन्ध किए जाते हैं तथा मेला शांन्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न होता है।

प्रधान
यंग फारमर क्लब,
कुन्दनपुर (बटेड़)
डा० अर्की, तहसील अर्की
जिला सोलन (हि०प्र०)

पहाड़ी गीतों में विविध रस

—प्रेमलाल गौतम

हमारा हिमाचल प्रदेश पहाड़ी सभ्यता की मनोहर एवं नयनाभिराम मानसरोवर झील है। जिसमें बारह जिलों के रूप में धवल झरने अविरल प्रवाहित होकर हमारी संस्कृति एवं सभ्यता को पुष्पित पल्वित करती है। हिम किरीट हिमालय जिसके गगन चुम्बी शैल श्रृंखलाएं सदैव हिम मंडित रहती हैं किसके हृदय को आकर्षित नहीं करता। ऐसा लगता है मानो प्रकृति ने मानव हिताय स्वर्ण समुदाय एकत्रित किया हो। सघन, बान, दयार, चीड़, बरास इत्यादि पादप-समूह से सुसज्जित हिमाचल वसुन्धरा साधु, सन्तों, पीरों, फकीरों, जोगनियों तथा सन्तों की तपोभूमि, मोर चकोर पपीहा, कोयला कबूतर आदि खग वृन्द का मधुर कलरव, छम छम, धड़ धड़, छल छलाहट करने वाली पहाड़ी सरिताएं और हरी भरी पोशाक पहने यह प्राकृति-प्रमदा नीलाम्बर की चुनरी, पूर्ण सम बिन्दिया लगाए किसे लालायित नही करती। सर्प तुल्य बक्रतामयी असंख्या सड़कें ऐसी भासित हो रही हैं मानो हिमाचल रूपी शंकर भगवान ने निवड असंख्या समूह की जटाओं में सर्प-समुदाय लिपटे हों। पहाड़ी राजमार्गों के ऊपर चलने वाले विविध यानों में में पर्यटक ऐसा अनुभव करते हैं मानो स्वर्ग भ्रमण हो रहा हो। नूतन प्रासाद, सघन ग्राम ऐसे लगते हैं मानो गगन में नक्षत्र वृन्द हो। प्रकृति रंगस्थल का वर्णन अवर्णनीय ही है— अश्वथ (पीपल वृक्ष) मानो सड़ सड़ाहट करके तालियां बजा रहा हो, बांस तथा केले मानो हरे पीले कपड़े पहन कर मदमस्त होकर नाच कर रहे हों। सेमर, बड़, त्यांबल, आम्रपादप मानो विविध ताल बजा रहे हों। ऐसा सभी कुछ निहार कर मानव कैसे चुप रह सकता था। हृदयोद्गार उठने लगे और मानव भावना विभोर हो उठा। आवश्यकता ने साकार रूप लिया :

जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात् साम्यो गतिमेव च।
यजुर्वेदादेभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

गीतों की अविरल सरिता प्रभावित हो चली। ऋषि-गण पूतमन्त्रों को सस्वर गाने लगे। जब मानव को खुशी का आभास हुआ तो प्रसन्नतादायी गीत अकस्मात् उसके मुँह से निकलने लगे और जब दुःखाभास हुआ तो हृदय विदारक नगमें गाने लगा। प्राकृति योषिता के विविध उतार-चढ़ाव से प्राणी वर्ग में हर अनुभूति आवश्यम्भावी थी। सुबह शाम षड् ऋतुओं का गमनागमन हर पहलू पर मानव गम्भीरतया सोचने लगा। प्रकृति के संयोग वियोग, बसन्त व पतझड़ वर्षा तथा शीत ने भावुक हृदय को चौंका दिया और रस विधान का श्रीगणेश हो गया।

आदि आचार्य महामुनि भरत ने अपने भरत नाट्य शास्त्र में रसों की गणना इस तरह की है :

शृङ्गार हास्य करूणा रौद्रवीर भयानकः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञों चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।

साहित्य मर्मज्ञ मम्मट्ट, विश्वनाथ पण्डित जगन्नाथादि आचार्यों ने भी पूर्वोक्त भरत सरणि को ही प्रशस्त किया है। "शान्तोऽपि नवमो रस." मम्मट महोदय का अतिरिक्त कथन है।

हिमाचली गीतों को इन श्रेणियों में रखा जा सकता है—"धार्मिक गीत" "बहादुरी विषयक गीत" तथा "वियोगदायी गीत"

(क) धार्मिक गीत :

निःसन्देह हमारा हिमाचल प्रदेश देवी देवताओं की विहार भूमि रही है। यहां ही धर्म मार्गदर्शी पुण्यात्माएं उत्पन्न हुईं। यहां ही महामुनि मनु ने मनुस्मृति ग्रन्थ मानव कल्याण हेतु लिखा। इसी पुनीत भू भाग में महाभारत रचयिता व्यासमुनि आदि हुए। गिरिजा एवं शंकर की विहार व तपोभूमि नगाधिराज हिमालय जगत प्रसिद्ध ही हैं। भक्ति परायण भगतगण कितने मंजुल शब्दों में गाते हैं।

सुन कांगड़े देया लोका तेरा शहर ज्वालामाई मन्दिर हो।
उचयाँ पहाड़ां वर्मा लगया जोतां जगियां मन्दिर हो।

आह ! सुनकर ऐसा लगता है मानो इसे गाते ही रहें। ऐसी भावना जागृत होती है कि सभी कुछ छोड़कर भगवती उपासना में ही लीन हो जाएं। सभी कुछ झूठा परन्तु ईश्वर का नाम सत्य।

मन्दिरो रा खोलो दीवार, दीवार मेरी माता।

ग्रामीण महिलाएं सुसज्जित वेश भूषा में सामूहिक रूप में जब पूर्वोक्त भजन गाती हैं तो हृदय खिल उठता है। माता दुर्गा के दर्शनोत्सुक भगत हृदय तड़प रहा है। एक और जैसे :—

घणे घणे जंगलां दे रहन्दी माता मेरिए।
देखणे रा सुन्दर नजारा हो।

मन्दिर की छवि देखकर प्रकृति चित्रण में दक्ष भगत कवि का कितना सुन्दर निरूपण है। दर्शक की सतत इच्छा है कि अपलक माता के मन्दिर को देखता रहूं। भक्ति में लीन भक्त को कितना सुन्दर मार्ग दर्शाया है :

खड़ियां चढ़ाइयां चढ़ी जायां भगता,
ओ मन्दिर वैष्णो दा आया।

अनन्य मनसा जब पूर्वोक्त भजन को भगत गाते हैं तो अन्तंध्यान से होकर सभी कुछ भूल जाते हैं। शंकर भगवान का गुण गान भी कम नहीं है :

मेरा भोला भण्डारी जटाधारी अमली .... आदि तथा
जय सिद्ध बाबा भोलानाथ (बालकनाथ)

इस प्रकार के भजनों को सुन मानव मात्र के अतिरिक्त लता-पादप भी नृत्य कर प्रकृति परिवेश अद्वितीय ही रूप धारण करता है।

(ख) खुशियों में गाये जाने वाले गीत :

मानव जन्म में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते हैं। खुशी में भरपूर मानव तरह-तरह के गीतों को यथावसर गाता है। शिशु जन्मोत्सव पर गाया जाने वाला गीत श्रवणीय है :

श्रवण बेटया मेरया तूसे मिट्टी नी खाया करों।
कब से हुए मेरे लाल लव कुश कब से हुए।

पूर्वोक्त गीत को सद्योजात शिशु के सुअवसर पर ग्रामीण औरतें खुशी-खुशी गाती हैं। सभी गांव की महिलाएं एकत्रित होकर इस तरह के गीत गा गाकर खुशी मनाती हैं। शादी के गीत हमारी पहाड़ी संस्कृति व सभ्यता की सुन्दर विरासत है एक अटूट कड़ी है। विवाह अवसर पर गाए जाने वाले सुहाग, घोड़ियां तथा सीठणियां (विवाह गालियां) बलवत् हृदय को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। पयागड़ा की झलक।

पहल सबेला रिये गइए नी बहूए दिन चढ़ने जो आया ओ।
दिले जान अड़िये ....॥
गुजरो जो तेरे जो मैं गुजरी लई आऊं, तिजो घर जाणे न देऊं।
दिले जान अड़िये ....॥

वधु के कितने भोले-भाले शब्दों का परिचायक यह सुहाग मनोहर नहीं है।

देखया नी आंमा देख बाहरे केड़ा चोर आया .....।
चोर नी बोलया धीए, मोर नी बोलया,
सेई वर तेरा॥

एक और :

वेदी दे अन्दर कोई जोगी बैंठे, बैंठे आसन लगाए।
कुड़ी दी आमे कोई दान जे किता, जोगी करी लेंदा हाथ वे॥

पूर्वाङ्कि सुहागों का रसाभास उन्हें ही सुलभ है जिन्होंन शादी के अवसरों पर वनिता-मण्डल के मुँह से सस्वर सुना हो। घोड़ियां भी कम हृदयहारी नहीं है।

जेवा पाई रखया लाड़या भ्रो लौंग लाइचिया रे दाणे ।
सालियां मांग दियां भाईया भ्रो लौंग लाइचिया रे दाणे ।।

जब दुल्हा तैयार होकर वधु को लाने चलता है, तो वर की बहिनों के पूर्व कथित सन्देश कितना मनोहर है । यथा :

इक हुई नेरी रात, बुए चांद बादलिए छाया ।
सुतिए नी माईए मेरीए, जाग पूत तेरा ब्याही घर भ्राया ।।

दुल्हनियां को लेकर दुल्हा खुशी से कह उठता है । जब बाराती भोजन करने लगते हैं तो गांव की महिलाएं सीठणियां (विवाह की गालियां) गाती हैं :

भ्रांगन साडा चिटम चिटा, भ्रांगन हांडया छेलू ।
मां बहिणा ब्याहो भ्रापणीयाँ जो मुंह कने लाभ्रो भाता रा ठेलू ।।

पहाड़ी गिद्दा भी भ्रतीव प्रसिद्ध है :

भ्रासां केड़े रोज मिलणा खाणा खाई लो मेरे साजना ।

गीत के बोलों को सुनते ही नर नारी के पैर स्वतः ही नृत्य हेतु चल पड़ते हैं झूम उठते हैं । शादी में वाद्य वादक तरह-२ की नाटियां तथा गीतों से मनोरंजन का सुन्दर वातावरण बना देते हैं । हर भ्रादमी गा उठता है :

मण्डी लगी रा लो म्हारे मेला शिवादासिए,
भ्राई लोड़ी मेले जो जरूर तेरी सौं । तथा—
दन्तारा बजदा भ्रो राझणा नूरपुरा दी मोरी......

इत्यादि खुशी परिचायक गीत हैं ।

(ग) दुःखदायी गीत :

तामस हारिणी तमसा नदी के कूल पर क्रौंच द्वन्द्व में से एक को शिकारी के द्वारा मारे जाने पर प्रस्फुटित करुण रस स्रोत्र वाल्मीकि की मंजुल गिरा से प्रवाहित हुभ्रा ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौंच मिथुनादकमवधीः काम मोहितम् ।

इसी श्लोक से महाकाव्य का शुभारम्भ तथा संस्कृत काव्य का शिला न्यास हुभ्रा । रामायण करूण रस प्रधान भ्रादिकाव्य है । "रामायणे हि करूणो रसः शोकः श्लोकत्वमागतः ।" वाल्मीकि से करूण रस लेकर महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरितम्' नामक महाकाव्य लिखा । भवभूति ने भी करूण रस प्रधान स्वीकृति प्रस्तुत की है ।

एको रसः करुण एक निमित्त भेबाद्,
भिन्नः पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त बुद् बुद् तरंग मयान् विकारान् ।
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ।

करूण रस ही प्रधान रस है । अन्य रस को भवभूति बुलबुले, तरंगों के रूप में मनाते हैं। वस्तुतः है तो पानी ही । करूण रस का पुट पहाड़ी गीतों में सर्वाधिक है । गायक गाता है :

डुगे नालो रेश्रा हारे कांगुया,
नदिया रे नीर सुकीगे
तू न सूखदा मेरया आंजुआ ।

कितनी करूण भावना भरी है 'गंगी' के इस बोल है। किसका हृदय नहीं रो उठता। कांगड़ा जनपद में प्रसिद्धि प्राप्त गीत फूलमा के शब्द कानों में पड़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं :

गवाड़ूए पछाडुूए तू काजो झांकदी झांका काजो मारदी ।
दो हाथ बटणे रे लायां फूलमू गल्लां होई बीतियां ।

धन्य है रांझा और फूलमू का प्रणय जिसके लिए दोनों ने आत्मसर्वस्व दे डाला। उनका प्रणय सम्वाद आज भी प्रत्येक हिमाचली को चकित करता है। इसी तरह।

बारिये जे बरसे कन्त घर आया
नजरी नी आई नू तेरी.........।
ईकी बार जाण, बार-बार जाणा
मुड़ी की नी आणा देश तेरे ।

कोई पति अपनी पत्नी को न देख कर मां से तरह-तरह से पूछ कर पत्नी मिलन को व्यथित होता है। अन्ततोगत्वा पत्नी के मर जाने की भनक पाकर पति घर बार छोड़ देने पर उतारु हो जाता है। हृदय के शत-शत टुकड़े हो जाते हैं जब सुहृद इस गीत को सुनते हैं।

जब पिता-गृह से नवविवाहिता को विदा किया जाता है तो उस समय गाया जाने वाला गीत सुनकर पाषाण हृदय भी द्रवित हो उठता है।

मेरी गुड़िया पटारु बे हुण भैंणे कद मिलणा ।
जेबे बापू जी बुलावण गे हुण भैंणे तब मिलणा ।

आज निरीहा नवदुलहनिया जिस घर में जन्म पाया उससे सम्बन्ध विच्छेद का कितना कारूणिक वर्णन करती है।

किसी बस दुर्घटना का वर्णन किसी गायक ने बड़े ही दारुण शब्दों में किया हैं।

भादों रेया मंगला हूं केड़ा बुरा आया बे।
सबी लोकां रा करिगा सफाया बे।

इस तरह अनेकों गीत पहाड़ी संस्कृति में करूण रस को स्पष्ट लक्षित करते हैं।

(घ) बहादुरी विषयक गीत :

हिमाचल प्रदेश में जहां भोले-भाले लोग हैं वहां वे बहादुरी के क्षेत्र में भी पीछे नहीं हैं। जिला बिलासपुर का मोहणा गीत बहादुरी का ज्वलन्त प्रमाण है। ऐसे बहादुर वीर भी यहां उत्पन्न हुए जिनका यशोगान आज भी गाया जाता है :

आया मरणा ओ मोहणा आया मरणा।
भाइए री गलाइया पांदे आया मरना।
बारह बजी गे ओ मोहणा बारह बजी गे।
राजे रीया घड़िया दे बारहा बजी गे।

धन्य है ऐसा सहोदर जिसने अपने अग्रज के लिए स्व को मिटा दिया। गुगा नवमी के अवसर पर जब सावन भादों की हरी भरी छटा में रंगी दुनियां सद्यस्नाता युवती की तरह मनोहर होती है गुगा महाराज के पुजारी अपनी मडलियों सहित गुगे की बहादुरी का कितना ओज पूर्ण वर्णन करते हैं।

खोल पटारिया लयाओ मेरे कपड़े।
भाई रीया ममता जो जाणा।
तीबीयां नी करदिया जुध वे लड़ाईयां।
यों हुन्दे सुरमया रे काम बे।

जब इस तरह के गीत सुनते हैं तो प्राचीन इतिहास सहसा आंखों के सामने झलकने लगता है। सिरमौर जनपद में भी मदना और कमना की हार आज भी गाई जाती है। इस तरह वीरता सूचक गीत हमारी सभ्यता के परिचायक चिरस्मरणीय रहेंगे।

(ङ) वियोगदायी गीत :

"क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं कृतान्त:" मेघदूत की यह उक्ति विरह व्यथित यक्ष की हृदय भावना का सुन्दर चित्रण है। संयोग एवं वियोग जीवन के दो सच्चे साथी हैं। यही सर्वाधिक रहस्य है कि प्राणी संयोग में अतीव प्रसन्नचित् तथा वियोग व्यथा में सन्तप्त दुःखी होता है। एक गीत जैसे।

भला साधू जोगिया हो मोया कांगड़े रे, बन्ने भलया कांगड़े रे बन्ने,
धूणा तेरा ओ जोगिया।
भला साधू जोगिया जो मोया बालक जनाना घरो मोया रोंदीं तेरी अम्मा,
घरां जो तूं आया जोगिया।

गृहस्थाश्रम से दुःखी कोई जोगी बन गया और गायक जोगी की विवाहिता के वियोग का वर्णन तथा माता का रुदन वर्णनीय है।

कपड़े धोंआं नाले रोआं कूंजुआ मुख बोल जवानी हो।
चम्बे रे चौगाना मेरा डेरा चंचलो बिच पिपल निशानी हो।

चंचलो अपने प्रेमी कूंजु के वियोग-व्यथित, कपड़े धोते हुए रो रही है। वह प्रेमी मिलन के लिए लालायित है। तरस रही है कि कब जैसे प्रिय मिलन हो। कितना सुन्दर विरह चित्रण है।

केता ते आई काली बादली ओ कुड़िए इन्दिरा देइए–
केता ते बगया ठण्डा नीर।

पृथ्वीचन्द और इन्दिरा देई का वियोग भी हृदय स्पर्शी है।

सिरमौरी बोली में रेशमी गीत (नाटी) भी वर्णनीय है :

रोन्दी त लगी रे रेशमिए नुंवे घोरो रे, नुंवें घोरो रे तुगें नंवे घोरो रे।
कोबे बोलणा टिकमियां तेरी आमां जो, तेरी आमां जों समु तेरी आमां जो।

रेशमी अपने प्रिय टिक्कू से अब एकाकी मिलन की जगत जीवन साथी बनने के लिए कितनी तड़प रही है।

चीट्टा तेरा गरारा गोपिए दूर परयाणू मोड़ो दा।

कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के वस्त्रों को पहिचान कर कितनी आतुरता से वर्णन करता है : अन्त में एक उदाहरण।

मा.नी रहेणा ओ माइके मा नी रहेणा,
रांजूए री लगी जान्दी बूरी माये मायके मा नी रहेणा।

पति वियोग अब असह्य है अतः मां मुझे अब ससुरालय जाना है। इस तरह के अनेकों गीत विरह पीड़ित गायक के मुखारविन्द से मुखरित हुए हैं।

"भिन्नता में एकता हिन्द की विशेषता" यह उक्ति अक्षरसः सत्य है। भारत तो दूर रहा हिमाचल प्रदेश में ही हर जिले के अपने-अपने रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, बोल-चाल, रहन-सहन होते हुए भी पृथकता में एकता के सुन्दर दर्शन है। हम एक ही स्वर्णिम सूत्र के मणि समूह है। हम एक ही वाटिका के रंग-विरंगे सुमन हैं। हमारे गीत भले ही अलग-अलग बोलियों में हैं परन्तु भावना एक ही है। पहाड़ी गीत पहाड़ी संस्कृति का निर्मल दर्पण हैं, जिसमें हम हिमाचली संस्कृति एवं सभ्यता के सुस्पष्ट दर्शन कर सकते हैं। हमें सदैव निज संस्कृति स्मरण रखनी चाहिए।

राजकीय माध्यमिक शिक्षालय
हाब्बन, जिला सिरमौर (हि०प्र०)

गदयार क्षेत्र में कार्तिकेय पूजन

–अमरसिंह रणपतिया

भरमौर क्षेत्र में बसे लोग धार्मिक प्रवृति के हैं। वे मुख्यतया शिव, शक्ति और नाग के पूजक हैं। शिव, शक्ति और नाग के मन्दिरों की भरमार है। मन्दिर में पुरातन-मूर्ति कला और हिन्दु संस्कृति सुरक्षित है। एक से एक मन्दिर बढ़कर सुन्दर, भव्य और समृद्ध है। देवी देवताओं में विश्वास उन्हें पुरातन काल से विरासत में मिला है। एक से एक मूर्तिकला का नमूना बढ़ कर है। प्रस्तर मूर्ति से कांस्य मूर्ति के उत्कृष्ट उदाहरण इसी क्षेत्र में सुरक्षित हैं।

जहां शिव, शक्ति और नाग पूजन का अब तक विश्वास बना हुआ है वहां ब्रह्मा और विष्णु के पूजन को समान रूप से कायम रखा गया है इसके साथ-साथ गणेश और कार्तिकेय के पूजन के उत्तम अवशेष देखने को मिलते हैं। गणेश की मूर्ति पुराने घरों के दरवाजों के चौखटे पर उकेरी अब भी नजर आती है। कोई भी कार्य आरम्भ करने से पूर्व गणपति का पूजन अब भी पुरातन ढंग से चला आ रहा है। इसी तरह कार्तिकेय को समान रूप दिया गया है।

सम्पूर्ण भारत में कार्तिकेय की मान्यता है। इस महा सेनानी देव को भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। इस देवता को दक्षिण में सुब्रह्मण्यम् के नाम से जाना जाता है और महाराष्ट्र में कुमार स्वामी के नाम से मान्यता दी जाती है। वहां स्त्रियों को इसके पूजन की आज्ञा नहीं है। इस देव को कार्तिकेय, गुह, गांगेय, महासेन, कुमारचन्द्र इत्यादि नामों से विशिष्ट किया जाता है। गदयार क्षेत्र में साहित्यक विशेषणों को छोड़ कर इन्हें कार्तिकेय स्वामी के नाम से पुकारा जाता है।

भरमौर जनजातीय क्षेत्र में रावी नदी के किनारे एक बहुत पुराना परगना है जो 'त्रेठा' के नाम से जाना जाता था अब भी इस क्षेत्र को 'त्रेठा' की संज्ञा दी जाती है। चम्बा एंठी-क्वीटीज में त्रेठा को 'त्रिघाट' का अपभ्रंश माना है। रावी नदी में वहां दो अन्य नाले आकर मिलते हैं। इसी के नाम से इस स्थान को त्रिघाट से त्रेठा की संज्ञा दी जाने लगी। इसी परगने में एक गांव कुलेठ है। उसे भी संस्कृत शब्द 'कुलगोष्ठ का अपभ्रंश माना है। यहां अब जीर्ण-शीर्ण अवस्था में एक बहुत पुराना मन्दिर है जिसे गांव के लोगों द्वारा मुरम्मत कर नया रूप दिया है। इसी मन्दिर में पुरातनकाल की एक प्रस्तर मूर्ति है जो मानवकद की भीमकाय अपने समय की कला का उत्कृष्टतम नमूना लिए खड़ी है। इसका स्थानीय लोग भी कार्तिकेय स्वामी की संज्ञा से पूजन करते हैं। इसे काले पत्थर में इस प्रकार तराशा गया है कि मूर्तिकार ने इसे तराशते हुए नखशिख और मूर्तिकला सिद्धांत का पालन किया है। छः मुख वाली यह मूर्ति चार सिर ऊपर की पंक्ति में और

चार निचली पंक्ति में लिए खड़ी है । छः हाथ दर्शाए गए हैं । हर हाथ में एक चिन्ह है जो अपनी सैद्धांतिक विशेषता का प्रतीक है । इस के हाथ में लिए चिन्हों का वर्णन इसी लेख मे अन्यत्र किया जा रहा है । चिन्हों का उल्लेख करने से पूर्व इस मूर्ति के इतिहास पर प्रकाश डालना अनिवार्य है ।

लोक कथा अपने परम्परागत ढंग से हर स्थान के लोक विश्वास पर आधारित है । अनुश्रुति है कि एक दिन भेड़ बकरी का चरवाह अपनी भेड़-बकरियों को नदी के किनारे ले गया । उसके पास कुल्हाड़ा था अतः उसने अपने कुल्हाड़े को तेज करना चाहा । वह एक शिला पर कुल्हाड़े को तेज कर रहा था कि उस शिला से खून की धारा बह निकली । वह घबरा गया अतः उसने उस शिला को उल्टा दिया । क्या देखता है कि कार्तिकेय की मूर्ति विद्यमान थी । वह अपनी पीठ पर मूर्ति को वर्तमान स्थान पर ले आया । वहां वह आराम करने लगा । जब दुबारा उठाना चाहा तो मूर्ति न उठी । कई व्यक्तियों ने उसे उठाना चाहा । परन्तु वह न उठी अतः वहीं मन्दिर का निर्माण किया गया । चम्बा गैजिटियर के २५३ पृष्ठ पर इसे कार्तिकेय स्वामी की संज्ञा दी गई है । इसके लिए ३८ बीघा और १५ बिस्वे निशुल्क भूमि की व्यवस्था थी ।

कार्तिकेय स्वामी के विषय में पुराणों में दो कथाएं प्रचलित हैं । एक कथा के अनुसार इन्हें अग्नि और स्वाहा का पुत्र माना है और दूसरी कथा के अनुसार इन्हें शिव और पार्वती का पुत्र माना है । दोनों दशाओं में इनका जन्म गंगा नदी के पानी में हुआ अतः यह गांङ्गेय के नाम से प्रसिद्ध हुए । कथाएं इस प्रकार हैं :

सृष्टि के आरम्भ में शिवजी को देवताओं के सेनापति का कार्य निभाना पड़ा । काफी समय अपना कर्त्तव्य निभाते हुए शिवजी थक गए । अतः कैलाश पर्वत पर तपस्या में लीन हो गए । सुअवसर पा कर राक्षसों ने उत्पात मचाना आरम्भ किया । उन्होंने इन्द्र का हाथी, कुबेर के एक हजार घोड़े और ऋषि की कामधेनु गाय चुरा ली । इन्द्र जी यह सब न सह सके अतः वह जंगलों में पलायन कर गए । एक दिन जंगल में क्या देखते हैं कि केसनी नामक राक्षस ने देव सेना नामक युवती को दबोच लिया है । उसका सतीत्व खतरे में था अतः उसने शोर मचाना आरम्भ किया । भाग्यवश इन्द्र उसकी रक्षा के लिए प्रकट हुए । युवती ने सुरक्षा पाकर इन्द्र देव से प्रार्थना की कि उसका पति इतना वीर हो कि इन राक्षसों का संहार कर सके । इस वर की प्राप्ति के लिए इन्द्रदेव ब्रह्मा के पास गए । ब्रह्मा ने कहा इस प्रकार के वीर का जन्म गंगा के पानी में होगा, वही इस युवती का पति होगा ।

एक बार सप्तऋषि एक स्थान पर हवन करने में व्यस्त थे । अतः अग्निदेव सप्तऋषि की पत्नियों पर मोहित हो गए । वह आशा पूर्ण न होने पर जंगल में चले गए । उधर दक्ष प्रजापति की पुत्री स्वाहा मौका पाकर अपना रूप वारी-२ से सात ऋषियों की पत्नियों का धारण किया और सात बार अग्नि का अंश प्राप्त कर एक सोने के बर्तन में रखा । उस सोने के बर्तन को गंगा नदी में डाल दिया । वहीं कार्तिकेय ने जन्म लिया । यह बच्चा छः राजकुमारियों को मिला वे उसकी सुन्दरता देखकर अपनाने का प्रयत्न करने लगीं । कार्तिकेय ने छः मुख धारण कर प्रत्येक की छाती से दूध पिया अतः उसे षणमुख भी कहा जाता है ।

दूसरी कथा इस प्रकार है :

देवताओं के महा सेना नायक शिवजी कैलाश पर्वत पर तपस्या में मग्न हो गए। उनकी तपस्या को कोई भी व्यक्ति या देव भंग करने में समर्थ न था। उधर तारकासुर ने मौका पाकर ब्रह्मा से वर प्राप्त किया कि उसे शिव के पुत्र के सिवाय कोई भी मारने में असमर्थ होगा। वह जानता था कि शिव तपस्या में लीन हैं और उनका पुत्र उत्पन्न होना असम्भव है अतः वह अमर और अजेय है। फलस्वरूप उसने देवताओं पर अत्याचार करने शुरु किए। देव उसके उत्पात से आतंकित होकर ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने उन्हें आश्वासन दिया कि गंगा के पानी में शिव-पार्वती के अंश से एक पुत्र की उत्पत्ति होगी वही तारकासुर का संहार करेगा।

देवताओं की इच्छा से सती ने उमा के रूप में जन्म लिया। उमा हिमालय या हिमवान् राजा की पुत्री थी। उसने शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या आरम्भ की उधर देवताओं ने काम के माध्यम से शिव की तपस्या भंग करनी चाही। काम ने तपस्या भंग करने हेतु शिव पर काम बाण फेंका। शिव की समाधि भंग हुए। तीसरा नेत्र खुला। काम को भस्म कर दिया। पार्वती (उमा) को पुनः तपस्या करनी पड़ी। शिव पार्वती का विवाह होने पर भी संतान उत्पति न हुई। देवताओं के आग्रह पर अग्नि देव ने कबूतर का रूप धारण किया तथा शिव पार्वती का अंश प्राप्त करने में सफल हुए परन्तु इसकी गर्मी अपनी चोंच पर सहन न कर सका अतः अंश गंगा नदी में गिरा और कार्तिकेय का जन्म हुआ। उन्होंने तारकासुर का वध किया। (यह विवरण शिव पुराण से लिया गया है।

कुलेठ की मूर्ति के छः हाथों में छः चिन्ह इस प्रकार हैं :

तीन दांय हाथों में क्रमशः खडग, बर्छा और सांप हैं। जैसे कि कथा से स्पष्ट है कि कार्तिकेय का जन्म तारकासुर के बध के लिए हुआ था अतः खडग और बर्छा आयुध के द्योतक हैं। सांप मृत्यु का द्योतक है। यह अन्य देवताओं की मूर्तियों के हाथ में भी दर्शाया जाता है।

तीन बांय हाथों में क्रमशः कबूतर, डमरू और ध्वजा है। कबूतर अग्निदेव का दूसरा रूप है। अग्नि का वाहन या तो तोता है या मेंढा और अन्यत्र सुनहरी घोड़ी है। इसको कबूतर या फाखता के रूप में वर्णित किया गया है। ध्वजा अग्नि का चिन्ह (प्रतीक) माना गया है। डमरू शिवजी का प्रतीक है।

हर वर्ष जन्माष्टमी के दूसरे दिन यहां एक बहुत बड़ा मेला लगता है। मेला रात को आयोजित किया जाता है! जन-जातीय लोग अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं तथा नाचते और गाते हैं।

एक अन्य पौराणिक कथा के अनुसार शिव और पार्वती ने इच्छा प्रकट की कि गणेश और कार्तिकेय में से जो भी पहले पृथ्वी की परिक्रमा करके पहुंचेगा उसका विवाह पहले किया जाएगा गणेश बात को समझ गए। उसने शिव पार्वती की परिक्रमा की और बैठ गए। उधर कार्तिकेय

सोमसी

सम्पूर्ण पृथ्वी की घूम कर जब वापस आए तो अपने आपको पराजित पाया । अतः कुपित होकर क्रोण पर्वत पर दक्षिणी भारत चले गए जहां शिवजी हर अमावस्या के दिन जाते हैं तथा जगद्माता पार्वती हर पूर्णिमा को जाती हैं ।

इस प्रकार कार्तिकेय स्वामी उत्तरी भारत में भी जनजातीय लोगों द्वारा समान रूप से पूजनीय हैं । मयूर वाहन पर आरूढ़ यह सेनानी अन्यत्र कुछ मन्दिरों में भी किसी न किसी स्थान पर दृष्टिगत होते हैं ।

मुख्याध्यापक,
राजकीय उच्च विद्यालय, चन्होता
वाया–भरमौर, जिला चम्बा (हि०प्र०)

बाबा बाजी साहिब : पंजबड़ वाले एक परिचय

—डा० प्रत्यूष गुलेरी

बाबा बाजी साहिब पंजबड़ वाले का नाम जिला कांगड़ा ही क्या पंजाब व हरियाणा के क्षेत्रों में भी प्रसिद्ध है। अब पंजबड़ क्षेत्र नवनिर्मित पोंग बांध के जलाशय में जलमग्न है किन्तु बाबा जी के भक्त व शिष्य वैशाखी के पर्व पर हजारों की संख्या में पंजबड़ से कोई चार किलोमीटर पीछे गुरुस्थान (बंगोली) में प्रतिवर्ष एकत्रित होकर अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित करते हैं। यह स्थान गुलेर रेलवे स्टेशन के बाईं ओर बाण गंगा के सुरम्य तट पर पश्चिम दिशा में अवस्थित है। गुलेर स्टेशन से इसकी दूरी कोई ६ किलोमीटर तो है ही। गुरु स्थान के ठीक सामने पौंग झील का दृश्य बहुत मनोरम है। एक किम्वदन्ती के आधार पर गुरु अमरदास जी ने अपने भतीजा श्री सावनमल्ल को बाबा बाजी साहिब व यतिदास जी आदि सहित सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में गोइंदवाल से गुलेर हरिपुर के राजा के पास भेजा था। सावनमल्ल गुरु जी के आदेश की आज्ञानुपालन उपरान्त गोहंदवाल लौट गए जबकि बाबा बाजी साहिब व यतिदास जी यहां के होकर ही रह गए। कारण यह कि राजा ने इन सिद्ध पुरुषों के चमत्कार से प्रभावित होकर जमीन मुआफी प्रदान कर दी थी।

चमत्कार प्रदर्शन की घटना बड़ी रोचक है। अन्तिम गुलेर नरेश बलदेव सिंह ने राज्य पंजिका में संकेत किया है कि गुरु अमरदास जी ने सम्वत् १६१२ वि० में गोइंदवाल में इमारती लकड़ी की कमी को देखते हुए अपने भतीजे सावनमल्ल जी को कुछ साधकों के साथ गुलेर राजा के पास भेजा। ये लोग पहाड़ी लोगों के जादू-टोनों से भयभीत थे। गुरु अमरदास जी ने उन्हें एक चमत्कार पूर्ण रूमाल दिया और कहा जब भी आपको कोई संकट पड़ेगा यह रूमाल आपकी मदद करेगा। तुम जो चाहोगे वह आकांक्षा तुम्हारी पूरी होगी। सावन मल्ल जी के साथ बाबा-बाजी साहिब व यतिदास जी के आने का लोक विश्वास है। जब ये साधक गुलेर रियासत के गांव नन्दपुर भटोली के निकट पहुंचे सूरज ढल गया। राजा के महल यहां से कोई अधिक दूर नहीं थे। उन्होंने तड़के ही राजा को अपने आने का आशय प्रकट करना उपयुक्त समझा। सावनमल्ल जी ने अपनी संगत से महलों के नीचे 'कुआली' के ठीक साथ अपना डेरा डालने का आदेश दिया। लंगर लगा दिया गया। गरीब, फकीर व साधुओं ने भरपेट प्रशाद खाया। उधर गुलेर रियासत में राजा के आदेश से एकादशी के दिन पूरा व्रत घोषित था। राजा भवन के नीचे कुछ दूरी पर लंगर के उठते धुएं को देखकर राजा के नौकर चाकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने आव देखा न ताव राजा से शिकायत कर दी कि यह शरारत कुछ बाहिर से आए साधकों की है।

राजा ने उस समुदाय के सब लोगों को अपने पास बुलाया और किए गए अपराध के लिए क्षमा याचना करने को कहा। साधकों ने उल्टे अपनी अन्न पकाने की दलील दी। राजा चिढ़ उठा और उसने बाबा सावनमल्ल सहित सब साधकों को कैद करने का आदेश दिया। परिणाम स्वरूप गोइंदवाल से आए साधक लोग गुरू अमरदास का संदेश देने से पूर्व राजा के कैदी बने।

उधर राज भवन में मध्य रात्रि के समय राजा के राजपुत्र के सख्त बीमार होने की खबर फैल गई। परिणाम स्वरूप राजपुत्र का निधन हो गया। रियासत में दिन निकलने से पूर्व ही शोक की लहर दौड़ गई। लोग इकट्ठे होकर कानों-कान बजने लगे कि हो न हो राजा ने अकारण ही साधकों को कैद करके उनका कोप अपने सिर लिया हो। किन्तु राजा के सम्मुख ऐसा कहने की हिम्मत किसी में नहीं थी। आखिरकार पहुंचे हुए तांत्रिक बुलाए गए वे इस निश्चय पर पहुंचे कि राजा ने जो साधकों को कैद किया है यह उन्हीं के कोप का कारण है। यह उनका शाप है। उन्हें तुरन्त रिहा कर देना चाहिए और राजपुत्र उनके सम्मुख पहुंचाना चाहिए। ऐसा ही किया गया। बाबा सावनमल्ल ने गुरू जी के दिए रुमाल को पानी से भिगो कर पानी की कुछ बूंदें मृत राजपुत्र के मुंह में टपकाई। राजपुत्र ने आंखें खोल दीं। एकत्रित लोग 'पंजै गुरू दे सिख' 'पंजै गुरू' बोल उठे। बाबा सावनमल्ल व उनके साथियों का बहुत सम्मान हुआ। राजा ने उसी दिन वैरागियों की कंठी तोड डाली और रानियों व मन्त्रियों सहित सतनाम का जापक व गुरू जी का सिख बना। तब कहीं जाकर सावनमल्ल ने अपने आने का आशय प्रकट किया। गोइंदवाल में धर्मशाला व मकानों के निर्माण के लिए गुरू जी के अनुरोध पर राजा ने इमारती लकड़ी के कई बेड़े भेजे। गुरू जी के रूमाल के प्रताप से सावनमल्ल व साथियों के सारे पर्वतवासी सेवक बन गए!

सावनमल्ल तो वापिस गोइंदवाल चले गए जबकि बाबा बाजी साहिब का पंजबड़ में और बाबा यतिदास के नन्दपुर भटोली में ही रह जाने का लोक बिश्वास प्रचलित है। यहां पर राजा द्वारा दी जमीन मुआफी में ये तपस्या करते रहे और ज्योति-ज्योत समाए। वैशाख महीने में दोनों सिद्ध पुरुषों की समाधियों पंजवड़ व नन्दपुर भटोली में प्रतिवर्ष मेला लगता है। पंजवड़ में बाबा बाजी साहिब का मन्दिर व समाधि हम जैसा पूर्व कह चुके हैं कि पौंग बांध जलाशय में आ जाने के उपरान्त 1977 ई० में बाबा जी के भक्तों ने बाबा जी की मूर्ति, अस्ति-कलश व अन्य स्मृति-शेष पंजबड़ से वर्तमान गुरू स्थान (बंगोली) में स्थापित कर दिए हैं।

गुरूस्थान का नामकरण व समाधियां :

इस नए स्थान में जहां पंजबड़ वाले बाबा बाजी साहिब के स्मृति-शेष मौजूद हैं के नामकरण को लेकर लोगों के अलग-अलग विचार थे। कुछ भक्तों ने इस स्थान का नाम 'नया पंजबड़' रखने की सम्मति दी उधर स्थानीय लोगों ने 'गुरू स्थान' कहना भी शुरु कर दिया। किन्तु हुआ यह कि 'नया पंजबड़' नाम लोगों ने स्वीकार नहीं किया और उधर से हिमाचल प्रदेश लोक निर्माण विभाग ने सड़कों पर जो बोर्ड लगाए उन पर भी 'गुरू स्थान' नाम दे दिया गया। परिणामतः 'गुरु स्थान' ही अब प्रसिद्ध हो गया है। यहां के स्थानीय लोग 'नौइयां समाधां' भी कहा करते हैं।

'गुरूस्थान' बाबा बाजी सहिब का मन्दिर है जिसे स्थानीय लोग चौकी भी कह कर पुकारते हैं। इसका आकार चौरस है। इसके ठीक सामने पौंग बांध का भरा पूरा जलाशय दिखाई देता है। साथ ही मन्दिर की दिशा भी एकदम पजबड़ की ओर है, जहां से प्रार्थना-अरदास करने वालों को पंजबड़ जैसा ही अनुभव व आनन्द प्राप्त होता है। यहां के प्रबन्धक व अथक कार्यकर्त्ता प्रोफैसर डा० गुरबखश सिंह वेदी ने एक ऐसी प्राचीन पत्थर निर्मित मूर्ति दिखाई जो बाबा जी का संकेत चित्र है। इसी संकेत मूर्ति के आधार पर सरदार शोभा सिंह ने बाबा जी का एक विशाल मनोरम चित्र तैयार किया है जिसे यहां भक्तों के दर्शनार्थ रखा गया है। गुरूस्थान के पास ही समाधियां तैयार की गई है। इनके निर्माण में जुटाया गया सामान पंजबड़ से ही लाया गया है। हुजूर बाबा साहिब की समाधि के शिखिर पर वही क्लश स्थापित किया गया है जो पंजबड़ की समाधि पर था। समाधियों के खुले प्रांगण में बाबा बाजी साहिब के चार साहिब जादों की समाधि व गद्दी मसंदों की समाधियां है।

प्राचीन सिक्के व पत्थर के बर्तन :

पंजबड़ की समाधियों के उखाड़ने पर अस्थि कलेशों के नीचे से कुछ पुराने सिक्के मिले हैं जिन्हें संभाल कर इन नई समाधियों के पास दर्शनार्थ रखा गया है। ये सिक्के सन् १८३५, १८८३, १९०६ व १९०७ ई० के हैं। इसके साथ ही एक पुरानी पत्थर की धूपदानी व दीपक है। धूपदानी की लम्बाई $8\frac{1}{4}$ ईंच चौड़ाई $4\frac{1}{2}$ ईंच व ऊंचाई $4\frac{1}{2}$ ईंच है जबकि दीपक की लम्बाई $5\frac{1}{2}$ ईंच ऊंचाई 3 ईंच व चौड़ाई 5 ईंच है।

बाबा बाजी साहिब का नाम व वंश परम्परा :

बाबा बाजी साहिब का नाम राजाराम था। ये गुरूनानक देव की वंश परम्परा से थे। श्री राजाराम के पिता का नाम श्री गुरदित चन्द था। गुरदित चन्द के राजाराम, जगजोत चन्द व तेगचन्द तीन पुत्र हुए। बाद में राजाराम के पंजबड़ में ही तपस्या स्थली बना लेने के फलस्वरूप वाजी साहिब के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रो० वेदी ने एक वंश वृक्ष भी दिखाया जिसमें वाजी साहिब का सीधा सम्बन्ध गुरूनानक देव से निश्चित है।

मेला व लोक विश्वास :

वैशाखी के अवसर पर जिस तरह पंजबड़ में तीन दिन मेला लगता था त्यों ही कुछ वर्षों से इस नए गुरूस्थान में प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में लोग दूर-दूर से आते हैं। दो दिन लगातार मेला भरा रहता है। इस स्थान तक धर्मशाला, वनखण्डी व हरिपुर के रास्ते से होती हुई विशेष बस सेवाएं भी उपलब्ध कराई जाती है। सिक्ख-हिन्दू जो बाबा के भक्त हैं व बाबा में श्रद्धा रखते हैं मन्नतें चढ़ाने आते हैं। कुछ सिख भक्त अमेरिका, कनेडा, ब्रिटेन व फिलीपाईन आदि से भी पधारते हैं। पहाड़ के लोगों का विश्वास है कि बाबा भूत है। वे इस गुरू स्थान पर आकर ऐसी प्रार्थनाएं करते भी देखे जाते हैं—बाबा हमारे दुःख दर्द दूर कर दे और हमारे दुश्मनों को हर तरह की हानि पहुंचा। उनके साथ चिपट कर उन्हें जितने कष्ट दे सकता है दे। परन्तु बाहिर से

आने वाले भक्त या सिक्ख संगत बाबा की मान्यता इस रूप में करते है कि बाबा मनोकामना पूरी करने वाला है । इसके कुछ फासले पर ही पुरातत्व विभाग की दृष्टि से महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान रीड़ है जहां उत्खनन करने पर पुरातत्व वेताओं व विशेषज्ञों की पत्थर युग के कुछ हथियार व मिट्टी पत्थर के पुराने बर्तन भी उपलब्ध हुए हैं । यह गुरूस्थान धीरे-धीरे लोकप्रिय होता जा रहा है । हिन्दू-सिख एकता का तो यह जीता जागता नमूना है । चम्बा के गद्दी लोग भी हर तीसरे वर्ष यहां आकर चढ़ावा चढ़ाते हैं ।

कीर्ति भवन, गुलेर
जिला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)

tharahkardu.in

चम्बा के संस्कार गीत

–तेजराज पूंगा 'तिलक'

संस्कार गीत किसी देश अथवा जाति के ऐसे स्तम्भ होते हैं जिनके द्वारा वहां की संस्कृति के मूल स्रोतों तक पहुंचा जा सकता है, कई बार इन संस्कार गीतों का जन्म प्रयत्नाचल से होता है और उसमें समाज के मानसिक धरातल का अक्षरशः चित्रण किया जाता परन्तु बहुत बार ये ऐसे आंचल से फूट पड़ते हैं जिनका आधार अत्यन्त भावुक होता है। अतः समझना चाहिए कि संस्कार गीत समाज की संजोयी हुई निधियां होती हैं। जो समाज के वायुमण्डल पर संगीत फुहार करती सामाजिक गठन को जीवित एवं अलंकृत करती हैं। संस्कार गीत मानसिक एषणाओं के व्यवहारिक पक्ष और ऐतिहासिक घटनाओं के भण्डार होते हैं। जिस प्रकार घाटियों के आंचलों से लिपटी मेघ टुकड़ियां शांत जल कणों से धरा का हृदय सींचती रहती हैं उसी प्रकार संस्कार गीत शांत समाज घाटियों में अपनी मधुरता बिखेरते रहते हैं।

विदेशी शासक किसी देश अथवा जाति को दिग्भ्रान्त करके ही उस देशविशेष पर अपनी दृढ़ता बनाये रखने में समर्थ होता है। हमारा भारत सदियों विदेशी जातियों के अधीन रहा जिसके कारण अपनी समृद्ध संस्कृति के अध्ययन एवं सृजन से प्रायः वंचित रहा। उन लोगों ने भी हमारी संस्कृति को नष्ट करने का भी जी भर प्रयत्न किया परन्तु फ़िर भी इसे समूल नष्ट न कर सके। इसका कारण संस्कृति के स्रोतों की विविधता, धाराओं की अनन्तता तथा सृजन की विभिन्नता के साथ-साथ विचित्रता का अक्षुण गहराव है। जिसे नष्ट करना कोई सौख्य कार्य नहीं। लोक-गीत उस विशाल संस्कार सागर की एक सरी मात्र है।

अपनी संस्कृति से सभी को प्यार होता है। किसी भी मूल्य पर कोई व्यक्ति अपनी संस्कृति को नहीं गंवाता, यही कारण है कि राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक विरोध भी इनके प्रवाह को नहीं रोक सकता। लोक गीत समाज के नैपथ्य से संस्कार बन कर अपनी ध्रुन चेतना का परिचय बांटते रहते हैं।

संस्कार गीत लोक दर्शन है। एक ओर साहित्यकार जहां जीवन की गहराइयों की थाह ले रहा होता है तो दूसरी ओर लोक कवि जन मानस के संस्कारों का सृजन संयोजन कर रहा होता है। अतः दोनों ओर से समाज का सृजन, दिग्दर्शन अपनी सूक्ष्म भावनाओं को समेटता चला जाता है। इस महत्ता को समझ कर आज के युगकार ने अपने देश, प्रान्तर एवं आंचल में बिखरी

संस्कृति के इस विशेष स्तम्भ के अध्ययन एवं संयोजन की दिशा को अपनी सामाजिक प्रगति के लिए एक आधार मान लिया है।

देश अथवा जाति अपने जिन आयामों में गुजर कर हमारे तक आई है ये संस्कृति गीत उन्हीं का विचार क्रम होते हैं। इनमें युगों का इतिहास एक दम समाया होता है। यों कहिए कि ये संस्कार गीत समाज का मौखिक विवरण होते हैं जिनका अध्ययन वहां की संस्कृति का अध्ययन है।

भारत अपनी विशाल एवं समृद्ध संस्कृति के लिए संसार में सबसे आगे है। उस समृद्ध संस्कृति का अक्षुण्ण रूप पर्वतों के पेट में अभी तक सुरक्षित है।

शिखरों की शांत जुल्फों के तले चम्बा जनपद अपने सांस्कृतिक वातावरण में अपने देश में ही प्रमुख स्थान नहीं रखता विदेशों में भी वह अपना भव्य स्थान पा चुका है। जहां भी आज सांस्कृतिक आयोजन होते हैं चम्बा के संस्कार गीतों की धूम सी मची रहती है। उन संगीत लहरियों का प्रभाव जन मानस पर बड़ी देर तक नाचता हुआ दिखाई देता है। उसकी प्यास बढ़ती ही जाती है और फिर उसे बुझाने के लिए चम्बा के लोक गीतों की आवश्यकता दर्शाई जाती है। इस पर चम्बा को मान है, अभिमान है।

चम्बा की संस्कृति जहां संस्कार गीतों में समृद्ध है वहां लोक नृत्यों से भरपूर है। जीवन का कोई ऐसा छोर नहीं जिसका दिग्दर्शन इन संस्कार गीतों में न हो और कोई ऐसा रंग नहीं जो इनमें न भरा हो। जीवन के सभी स्वरुपों से भरे ये संस्कार गीत मरण, विवाह, प्रशंसा, इतिहास भूगोल, धर्म, भक्ति, दर्शन, रीति-रिवाज, जादू-टोनों, ऋतुरंगवर्णन, विज्ञान, पुजा-पाठ-विधि साहित्यिक विधाओं जैसे भ्रमर गीत पद्धति, युद्ध वर्णन 'रासो प्रथा' आदि अनेक संस्कार आपको चम्बयाली लोक गीतों में देखने को मिलेंगे। इतना विविध एवं विचित्र, सजीव एवं स्टीक, समृद्ध एवं मार्मिक लोक साहित्य आपको शायद ही अन्यत्र मिले। यद्यपि इस अनन्त सागर को इस लेख में समेट पाना असम्भव है तथापि उसमें से कुच्छेक सीपों में से मोती निकाल कर लाने की कोशिश करुंगा।

भक्ति संस्कार युक्त लोक गीत :

प्रेम भक्ति और श्रद्धा मानव हृदय की नैसर्गिक वृतियां हैं। मनुष्य ने सदा से अपने से ऊपर एक सत्ता को समझा है जो प्रेम रूप से सर्व व्याप्त है। उसके प्रति श्रद्धा भाव भक्ति रस को लेकर हमारे लोक गीतों में भी प्रवाहित हुआ है।

हिमालय अछूता होने के कारण शिव संज्ञा से विभूषित है और पार्वती "जनवाणी" उसे विजित करने के लिए रिझाती है उसी संस्कार को जन-कवि ने कितने सुन्दर शब्दों में पिरोया है जो पातिव्रत्य का प्रतीक मान लिया गया है।

सिव कैलासों के बासी धौली धारों के राजा संकट-संकट हरना।
तेरे कैलासों का अन्त नि पायो संत खड़े तेरी सरणा,

सिव कैलासों के बासी धौलो धारों के राजा संकट-संकट हरना।
उच्ची-उच्ची धारा पौण फुहारा गज-गज बरसेश्रा पाला,
सिव कैलासों के बासी धौलो धारों के राजा संकट-सकट हरना।
नंगे-नंगे पैराँ तेरे जात्रू आए भरदे ने जै-जै कारा,
सिव कैलासों के बासी धौलो धारों के राजा संकट-संकट हरना।
अंग भभूत धौलु सुवारी दरसण किहां करि करणा,
सिव कैलासों के बासी धौलो धारों के राजा संकट-संकट हरना।

सरलार्थ :

शिव कैलाश पर वास करने वाले सभी सफेद शिखरों के स्वामी है। जो संकट हरण करते हैं। तुम्हारे कैलाशों का कोई अन्त नही पाया गया इसी लिए सन्त लोग तुम्हारी शरण में आ गए हैं। ऊंचे-ऊंचे शिखरों पर सदा बर्फ फुहारती रहती है और वहां गजों बर्फ पड़ गई है। तेरे 'शिव' भक्त लोग नंगे पांव से तेरे पास आकर तेरी जय बोल रहे हैं। शरीर पर विभूति मली हुई है, सफेद बैल पर सवारी कर रहे हो तुम्हारे मैं (पार्वती) दर्शन कैसे करुं।

शैव सम्प्रदाय के अनुसार सृष्टि की उत्पति का दर्शन :

शिव शिखरों के स्वामी है, चम्बा शिव धरती है। अतः शैव सम्प्रदाय की अनेक परम्पराओं का वर्णन यहां के लोक-गीतों में पाया जाता है। तीर्थों की महत्ता, कर्म और योग पर विशेष बल तथा गुरु भक्ति ये सभी प्रथाएं आज भी चम्बयाली समाज के अंग हैं। शिव मन्दिरों की स्थापना के उपरान्त शिव पूजन 'नवाला' दसयून्द आदि-आदि कई विधियाँ प्रचलित हैं। शिव पूजन के अवसर पर भक्ति भरे संस्कार गीतों 'ऐंचली' के कई सरूपों में घटथापना, 'आरम्भ' सृष्टि की उत्पति से किया जाता है।

पृथ्वी को अस्तित्व में आने से पूर्व किस प्रकार की स्थिति रही होगी, किन-२ देवी-देवताओं ने इसे अस्तित्व में लाने के लिए क्या दायित्व निभाया और कौन-कौन से कार्य उसके पश्चात करने होंगे आदि-आदि यह सब विधि विधान शिव द्वारा ब्रह्मा और विष्णु को समझाए गये हैं। शिव को आदि देव मान कर ही यह लोक-भक्ति रचना की गई है।

न थीये धरणी न थीये गासातां थीया न्हेर गुबार न,
न थीये चन्दरा न थीये सूरजा तां थीया न्हेर गुबार न,
न थीये तारा न थीये बयाहणु तां थीया न्हेर गुबार न,
न थीये बरमा न थीये बिष्णु तां थीया न्हेर गुबार न,
अंग मली ते सामी मैल कढ़ाई ऐजिसे केरी धरणी उपाई न,
बरमा पुछदा बिष्णु ए ताई ऐ किहयां लैंणे धरती रे भारे न,
नाज गुरू भछणा मनसो ब्याहणी तां लैंणे धरणी रे भारे न।

सरलार्थ :

जब धरती और आकाश नहीं थे तब चारों ओर अंधकार था। जब चन्द्रमा और सूर्य

नहीं थे तब चारों ओर अन्धकार था। जब न रात्रि के तारे थे और न प्रभात का तारा था तब चारों ओर अंधकार था। जब न ब्रह्मा और न विष्णु थे तब चारों ओर अन्धकार था। उस समय स्वामी (शिव) ने अपने शरीर की मैल को उतारा और उसकी पृथ्वी बनाई। ब्रह्मा फिर विष्णु को पूछने लगे कि अब धरती का (कार्य) भार कैसे सम्भाला जाए। (विष्णु ने उत्तर दिया) अनाज (रूपि) गुरू को खा कर मनसा (रूपि) स्त्री से शादी करके धरती के (कार्य) भार को सम्भाला जाए।

यज्ञोपवीत संस्कार का कर्म योग (पक्ष) :

सनातन धर्म के सोलह संस्कारों का सम्पूर्ण वर्णन नवाले (शिव पूजन) में भक्ति संस्कार गीतों में किया गया है। शिव लोक नायक होकर भी पुरुषोतम बन लोकमर्यादा निभाते हैं। प्राचीन युग में लिपि एवं मुद्रण के अभाव की परवाह न कर जन कवि सनातन दर्शन के विकास की स्मृतियों का बराबर सर्जन-संयोजन कर रहा था। समाज के जीवन प्रवाह को नाना ध्वनियों, संगीतों में पिरो कर व्यक्तिगत बनाया जा रहा था। उस समय का रचनाकार सामाजिक विकास के अन्य मूल्यों से भले ही अनभिज्ञ रहा हो संगीत की लहरों, भावनाओं की गहराईयों तथा जीवन की मर्यादाओं से वह पूरी तरह अवगत था। तभी तो हमारे सामने यह प्राचीन जीवन दर्शन लोक-साहित्य के रूप में हमारे अन्दर ठाठें मार रहा है। उससे किसे प्यार न होगा। ? उसमें जन जीवन की झलक क्यों न होगी। उससे साहित्य और इतिहास के संस्कारों का संगम क्यों न होगा।

यह लोक साहित्य शहर गांव, ऊंच नीच, जाति-पाति, पूर्व पश्चिम और काल की सभी मर्यादाओं को चीर कर आगे बढ़ा है क्योंकि इसका मानसिक धरातल निर्लेप, निर्विकार तथा निश्छल है। प्रकृति का यह व्यवधान है कि जीवन का छल-कपट, प्रवंचना और अमर्यादा ये सभी कुछ समय के उदर में चला जाता है परन्तु श्रेष्ठ, शुद्ध तथा सत्य समय का स्वामी बना रहता है जो अटल, अडिग, अजर, अमर है। यही एक अच्छे लोक साहित्य की परिभाषा हो सकती है। "सार-सार को गहि रहे थोथा दियो जलाये" । लोक संस्कारों पे पले ये लोक संस्कार गीत जनमानस तीर्थ होते हैं। जिनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन एवं मोक्ष का द्वार खुलता है।

नख शिख वर्णन (संयोग पक्ष) :

प्रेम जीवन का मोक्ष द्वार है। उसके मार्ग से आत्मा का मिलन परमात्मा से होता है। उस मार्ग के दो रूप हैं। संयोग और वियोग। संयोग की अपेक्षा वियोग का मार्ग दुर्गम परन्तु सबल है। इसी कारण संसार का तीन चौथाई शुद्ध साहित्य वियोग पक्ष को लेकर लिखा गया है। संयोग पक्ष में प्रेम की बहुत थोड़ी प्रथाएं स्थापित हैं जो प्रेम का सम्पूर्ण निर्वाह करती हों। प्रेमी अथवा प्रेमिका द्वारा एक दूसरे के नख-शिख वर्णन की प्रथा प्रायः दोनों प्रेम मार्गों में ठीक बैठती है।

भारत के हिन्दी साहित्य के इतिहास की कृष्ण भक्ति शाखा में भ्रमर गीतों की बड़ी प्रथा रही है, भ्रमर को प्रेमी का प्रतीक मान लिया गया है। भ्रमर उसी प्रथा को निभाते हुए लोक गीतकार प्रेमिका के मनोद्वेग की विहवलता और अपने प्रति प्रेमी के शुद्ध संस्कार जानने की इच्छा

को व्यक्त करती हुई भ्रमर से बार-बार प्रश्न करती है। ताकि वह उस प्रकार अभिसार एवं शृंगार कर अपने प्रेम पर विजय पा सके।

'प्रेम न जाने जात पात' की लोकोक्ति से कौन सहृदयी अवगत न होगा। प्रेम अन्धा ही नहीं अविज्ञ भी होता है। सम्भवत: प्रेमान्ध लोगों के मुख से निम्न भाव उद्वेलित हुआ है।

प्रेम का वियोग पक्ष :

वियोग स्नेह का सूत्र है। स्नेह संस्कारों की एकरसता ही परमानन्द की स्थिति है। प्रेम पर जितना निखार विरह की स्थिति में आता है उतना संयोग की स्थिति में नहीं आता। सम्भवत: इसी अवस्था को समझाने के लिए खुदा हम से पिन्हा हो गया। वियोग प्रेम की कसौटी ही नहीं भट्टी भी है जहां प्रेम कंचन बनता है। सृष्टि का प्रादुर्भाव ही शायद वियोग पक्ष में हुआ होगा इसी लिए धरती का स्वामी, 'मानव' वियोग में आनन्द का अधिक अनुभव करता है।

हमारे लोक कवि ने भी वियोगात्मानुभूति का सजीव चित्रण कर चम्बा की घाटियों की फिजाओं को अपने प्रेम विह्वल स्वरों से उद्वेलित सा कर रखा है जिसकी गूंज आज भी नवीन प्रेमी युगलों को आत्म विभोर कर उन्हें अपने-अपने प्रेम की परीक्षाओं के लिए ललकारती है। यह प्रेम स्वर गंगा न जाने कब तक चम्बा के जन मानस को पावन करती रहे कहना कठिन है।

संगीत के तरन्नुम पर जहां फिजाएं नाचती हैं वहां की कमनीय कामनियों का क्या होगा? सुन्दर रमणियों का क्या हागा? नौ जवान धमनियों का क्या होगा? इन्द्र धनुष के हिंडोलों पर नाचती-गाती उस निष्कपट प्रकृति का क्या होगा और फिर उस युवती का क्या हुआ होगा जिसको हमारे कवि ने अपना स्वर ही तथा स्नेह ही नहीं अथवा अपने जीवन के सारे संस्कार ही दे डाले और अपनी नायिका को अमरत्व दे दिया, जीवन दे दिया, अपना सर्वस्व दे दिया।

निम्न की पंक्तियों में प्रेमी जब अपनी प्रेमिका से बिछुड़ कर दूर चला जाता है। प्रकृति को अपनी सदृश वियोग में डूबी पाता है तो प्रेमाश्रु छुपाए नहीं छुपते वे हृदय की व्यथा को अपने अन्तरंग मित्र मियां (राजपूत जाती के युवक) से कहता है। साथ ही वह उस पुरुष से अनुरोध करता है कि कृपया उसका वर्णन वह उसकी प्रेमिका से न कहे। यह कैसे सम्भव था उसके लिए कि उसका दोस्त विरह में घुले और वह मूक बन कर उसकी विरह शान्ति का कोई उपाय न करे। दोस्त को धैर्य बन्धा वह उसे विश्वास देकर वहां से चल देता है और दूसरे ही क्षण वह उसकी प्रेमिका के गांव में पहुंच जाता है और उसे उसके प्रेमी की मनोदशा का विवरण कह देता है। प्रेमी की विह्वलता, विवशता और उद्विगनता का विरह संताप उसे असहय कर देता है। वह अपनी सुध भूल जाती है। वह कुल मर्यादा आदि भूल जाती है और स्यात मियां जी से बार-बार प्रश्न करती जाती है। अपनी मां से अपने प्रेमी से मिलने की आज्ञा के उपलक्ष्य में अपने शृंगार के सभी वस्त्र मांगती है। वह आग्रह करती है कि :

जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमाँ मेरे मोचड़ू मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमां मेरे सालणु मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमां मेरी चोलणी मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-जले रोया हो।
दे अमां मेरी सोथणी मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमां मेरी झांझरा मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमां बलाकड़ू मैं पाजी हेरण जाणा हो।
जूढे रे उकाला मियां जी पाजी झले-झले रोया हो।
दे अमां मुरीदड़ी मैं पाजी हेरण जाणा हो।

सरलार्थ :

गोरी अपने मायके अपने पास आये युवक मियां से पूछती है क्या मियां जी जूढ़ (चम्बा जनपद की चुराह तहसील का एक परगना विशेष) की चढ़ाई पर पाजी (प्रेमी का उपनाम) विरहाश्रुओं में रोया था ? अमां जी मुझे जूतियां लाकर दो मैं पाजी (प्रेमी) देखने जाऊंगी। क्या मियां जी जूढ़ की चढ़ाई पर पाजी प्रेम के अश्रु भर रोया था ? हे अम्मां जी मुझे मेरी चूनरी दो मैं पाजी देखने (मिलने) जाऊंगी हे मियां जी क्या जूढ़ की चढ़ाई पर पाजी रोया था ? हे मां मुझे कुर्ता ला कर दो मैं पाजी देखने जाऊंगी। हे मियां जी क्या जूढ़ की चढ़ाई पर पाजी प्रेमाश्रुओं में रोया था ? हे अम्मां जी मुझे पाजामी लाकर दो मैंने पाजी देखने जाना है। हे मियां जी क्या जूढ़ की चढ़ाई पर पाजी विदग्ध अश्रुओं से रोया था ? हे मां मुझे झांझर लाकर दो मैं पाजी को देखने जाऊंगी। हे मियां जी क्या जूढ़ की चढ़ाई पर पाजी विराश्रुओं में रोया था ? हे मां मुझे ब्लाक (होंठ के ऊपर नाक के बीच में बेंध कर लोहे के पुराने दीये की शकल का सोने का एक गहना जो पुरानी चम्बा की औरतें पहनती थी) ला कर दो मैं पाजी को देखने जाऊंगी। हे मियां जी क्या जूंढ़ की चढ़ाई पर पाजी मेरी याद में छल-छल कर के रोया था ? हे अम्मां जी मुझे मुरीदड़ी (सनील के कपड़े की मोटी डोरी की तरह की वस्तु जिसे पुरानी स्त्रियां अपने दोनों हाथों पर बाजुबन्द की तरह सुन्दरता को बढ़ाने के लिए बान्धा करती थी) ला कर दे मैं पाजी को देखने जाऊंगी।

ऐतिहासिकता लिए संस्कार गीत :

आज के रूप में आने से पूर्व चम्बा एक 'टक' नामक जनपद का भाग रहा है जिसकी सीमाएं पूर्वी पजाब से आरम्भ होकर पश्चिम सिंध तक और दक्षिण में राजस्थान से लेकर उत्तर में काश्मीर तक थी। इस जनपद की अपनी भाषा रही है जिसे टाकरी कहा जाता था जो बाद में

चम्बा जनपद की राज भाषा रहने के पश्चात् रियास्तों के पुर्नगठन के साथ निष्कासित कर दी गई। उसी जनपद की अपनी मुद्रा भी थी जिसे 'टका' कहा जाता था। वही मुद्रा चम्बा जनपद के राज्यत्व काल में भी प्रचलित रही और फिर उसका भी वही अन्त हुआ जो उसकी बहन भाषा का हुआ था।

अभी तक इतिहास की ये महत्वपूर्ण घटनाएं प्रश्न लिए खड़ी हैं। चम्बा के किसी जागरूक लेखक ने इस पर से पर्दा नही उठाया। इन ऐतिहासिक घटनाओं का छुट-पुट रूप अब भी लोक संस्कार गीतों में जीवित है जिनके सहारे हम उन ऐतिहासिक तथ्यों तक पहुंच सकते हैं।

लोहड़ी का त्यौहार प्राचीन काल से ही उत्तरी भारत खण्ड में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। नाना संस्कारों के उद्‌भूत (सलिप्त) इस दिन को बड़ा पवित्र माना गया है। लोग मकर संक्रांति के शुभागमन पर स्नान करके नाना प्रकार का दान तर्पण करते हैं। तीर्थ स्नान करते हैं। हर स्थान पर कोई अपनी विशेष प्रथाएं होती हैं जिनका निर्वाह वे बड़े दायित्व उत्साह एवं श्रद्धा से करते हैं। ऐसी ही प्रथा चम्बा में अब तक चली आई है जिसके अनुसार विक्रमी पौष मास के सारे दिनों बच्चे घर वालों से लकड़िया मांगते हैं और फिर मकर की सक्रांति को सवेरे से कठोरा (काष्ठा) एवं धन मांगते हैं। घर वाले भी उन्हें सहर्ष लकड़ी आदि जो वे मांगते हैं दे देते हैं। बच्चे अपने-अपने महलों के एक गिरोह बना कर कई तरह के ऐतिहासिक छन्द बोलते हैं। और फिर अपना हक जितलाते हुए अपनी मांग रखते हैं। न देने पर कई बार वे लड़ तक पड़ते हैं और आखिरकार वे कुछ न कुछ लेकर ही पीछा छोड़ते हैं। यद्यपि वे सारे छन्द यहां उद्‌त करना प्रयोजित नहीं तथापि हमारे विषय के साथ मेल खाता एक छन्द देना ही पर्याप्त होगा यथा :

हां करो हां करो गभरूओ काठोरा,
दरवज्जे बन्दो, बन्दोरा,
देयो जी टका धेली।

सरलार्थ :

हे लड़को ! हमारे साथ तुम हां भरो जिस वस्तु को हम आज मांगने आए हैं तुम उसकी सत्यता अथवा आवश्यकता के लिए हा भरो (दरवाजे की बन्दना करो) प्रातःकाल किसी के घर में प्रवेश पाने से पूर्व सारे घर की वन्दना करना, घर एवं दुकान को खोलते अथवा बन्द करते समय दरवाजे की बन्दना करना अब तक प्रचलित है। उसी प्रथा विशेष का यहां वर्णन है। हां हमने बन्दना कर ली। हमें अब टका (दो पैसे का पुराना सिक्का) तथा धेली (पैसे का आधा सिक्का) दे दो। चम्बा में लकड़ी के गट्ठे को आज भी कठोरू कहते हैं।

भौगोलिक बाधाओं द्वारा तृस्कृत जन जीवन :

चम्बा की भौगोलिक परिस्थितियां इतनी कड़ी रही हैं जिनका निराकरण आज दिन तक नहीं हो पाया। मानसिक भिन्नता को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधे रखने का अभ्यास इन्हीं परिस्थितियों की देन है। एक ओर जहां इन परिस्थितियों ने मानव विकास के सोपानों से चम्बा को वंचित रखा तो दूसरी ओर आत्म निर्भरता का पाठ भी पढ़ाया।

प्राकृतिक और शासन नियन्त्रण दोनों फिर भी जन जीवन को पंगु न बना सके। प्राकृतिक छटा के समयकारी प्रभाव जन जीवन में घुल मिल कर आगे सरकते रहे। व्यापारियों के काफिले जब कभी प्राकृतिक सौंदर्य की गोद में पली सुन्दर रमणियों का सान्निध्य प्राप्त करता तो एक बार तो वह आत्म विभोर हुए बिना न रहता। इसी प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण किसी लोक कवि ने इस प्रकार किया है।

पर्वतों की ढलानों पर नाचती गाती रमणियों की सुन्दरता पर मन्त्र मुग्ध व्यापारी स्वतन्त्र स्वर लहरियों द्वारा घायल होकर अपना आप भूल जाता है। उसका व्यापारिक कपटी मन प्रेरक भावनाओं का गुलाम सर्वस्व लुटा देता है। घर पर जाकर सौदा बेचने के बहाने अपना अधिक समय उस दिव्यारूपा के संग बिताने का उसे अच्छा बहाना सूझता है। वह अपने सौदे के द्वारा उस रमणी के कोमल भावों को जीतना चाहता है। यह गाना उस पृष्ट भूमि का एक सजीव चित्र पेश करता है। लीजिए आप भी उसका रसास्वादन करिये।

रमणी : झिके भला देसे दा कोई बाणी आया हो।
मां : उनी भला बाणिये के ओ ल्यांदा हो,
रमणी : ओ अम्मां भला मेरिए मोचड़ ल्यांदे।
अो अम्मां भला मेरिये मोल बडड़े।
मां : ओ धीये भला याणिये तां बो के होया।
रमणी : झिके भला देसे दा कोई बाणी आया हो।
मां : उनी भला बाणिये के ओ ल्यान्दा हो।
रमणी : ओ अम्मां भला मेरिए सालणु ल्यांदे।
ओ अम्मां भला मेरिये मोल बडड़े।
मां : ओ धीये भला याणिये तां बों के होया।
रमणी : झिके भला देशे दा कोई बाणी आया हो।
माँ : उनी भला बाणिये के ओ ल्यान्दा हो,
रमणी : उनो भला बाणिये चोलणु ल्यान्दे।
अम्मां भला मेरिये मोल बडड़े,
मां : धीये भला याणिये तां बो के होया।
रमणी : झिके भला देसे बा कोई बाणी आया हो।
मां : उनी भला बाणिये के ओ ल्यान्वा हो।
रमणी : अम्मां भला मेरिये सोथणी ल्यान्दी।
ओ अम्मां भला मेरिये मोल बडड़े,
मां : ओ धीये भला याणिये तां बो के होया।

सरलार्थ :

रमणी (लड़की) अपनी मां को व्यापारी के आने पर पुकार कर कहती है, हे मां। निचले पंजाब से कोई व्यापारी आया हुआ है। मां कहती है उस व्यापारी ने क्या-क्या सौदा लाया है। रमणी उत्तर देती है कि उसने पांव के लिए जूते लाए हैं। हे मां ! बड़े (मंहगे भाव) मोल के हैं। मां उत्तर देती है कि हे पुत्री। तब क्या हुआ ? (दूर काम कर रही मां को आवाज देकर व्यापारी के आगमन की सूचना देती है) कि हे मां ! निचले देश से कोई व्यापारी आया हुआ है। मां वहीं से काम करती हुई लड़की से पूछ लेती है कि हे पुत्री ! उस व्यापारी ने क्या-क्या वस्तुएं लाई हैं। पुत्री उत्तर में कहती है कि उसने दुपट्टे लाए हैं, पर हे माता वे मंहगे बहुत हैं। उत्तर में मां कहती है कि ओ मेरी छोटी सी धीए (पुत्री) यदि वे मंहगे भी हैं तो क्या हो गया। तीसरी बार लड़की फिर व्यापारी के आने की सूचना मां को देती है। मां फिर उसी भान्ति व्यापारी ने क्या लाया है, लड़की को उत्तर में पूछ लेती है, तो पुत्री उसके उत्तर में इस बार चोलणी अर्थात् घघरियां लाने की बात कहती है। साथ ही उनके मंहगे होने की सूचना भी भेज देती है। उसकी मां अपनी लड़की के भोलपन पर बलिहारी सी जाती कह उठती है, तब क्या हुआ, अन्तिम पंक्तियों में लड़की जब बाणिये के आने की सूचना अपनी मां को देती है और मां भी जब पुत्री के प्रति उत्तर में व्यापारी के सौदे का ब्योरा पूछती है तो लड़की व्यापारी के पास पाजामी होने की बात कहती है और साथ ही उसका मंहगापन भी मां को बताती है तो मां लड़की के भोलेपन पर वात्सालय जितलाती हुई कहती है हे पुत्री। यदि मंहगी भी हैं तो क्या हुआ ?

वासनायुक्त वर्षा काल और उसका यौवन व्यंग्य :

भूगोल और इतिहास के कटघरे से निकलकर ऋतु की मादकता के धरातल पर उतर कर अब हम चम्बा के अतीत को झांकेंगे। संसार में भारत ही ऐसा सौभाग्यशाली देश है जहां सबसे अधिक ऋतुयें अपने संस्कारों का आदान-प्रदान करती हैं। उसमें चम्बा का प्रान्तर भी नहा लेता है उसका उदाहरण नीचे उद्दृत है।

सावन भादों का समय धरा का यौवन माना जाता है। उस समय प्रकृति और पुरुष का समागम होता है। आकाश पर विचरण करने वाला पुरुष मेघ रूप धारण कर प्रकृति के साथ आलिंगन कर अपना प्रेम रस दे जाता है। घटायें इस मिलन को छुपाने के लिए अपने आंचल ओढ़ा देती है। और फिर जी भर कर मिलन होता है। प्रकृति आत्म विभोर हो जाती है। प्राणी प्रणय परिणित सा व्याकुल प्रेमपाश के लिए ललायित हो जाता है। सभी स्थावर जंगम नाच उठते हैं। और तभी यौवन मुरझा जाता है। पी जाता है रस कोई, चोर ले जाता है मन का अलहाद कोई'। निष्ठुर मेघ अपना प्यार समेट उसे वस्त्रहीन कर, तरसता-बिलखता छोड़ स्वयं कहीं दूर चला जाता है। और बाला (धरती) प्रोषितपतिका सी उदास उन यादों की बारातों को लिए शान्त एवं स्तब्ध पड़ी रहती है। कोई पुछने वाला, कोई अश्रु बहाने वाला, कोई यौवन ग्राहक अब उसे नहीं दिखई देता। नदी नाले भी मुंह फेर कर तेजी से भाग निकलते हैं, कि कहीं उन्हें भी विरह भाजन न बनना पड़े। पवन सहेली भी अब उस ओर नहीं आती, घन अपनी घाम कहां देते हैं। चांद ने भी अपनी शीतलता सफेद चादर में लपेट कर उस के

स्थान पर आग बरसाना शुरू कर दी है। यही कुछ एक युवा बाला के साथ भी घटित होता देख हमारे लोक कवि की तीक्षण बुद्धि भी स्वर तारों पर उतर कर लोक वाणी में परिणित हो जाती है।

यौवन के मिलन और युवती के मानसिक संस्कारों का वासनामय रूपक जितना सुन्दर निम्न लोक गीत में आप को मिलेगा उतना शायद ही किसी अन्य लोक साहित्य में मिले। यथा :

गुडके चमके भाउआ मेघा हो बरहे चम्यालां रे देसा हो।
कियां गुडका कियां चमकां हो अम्बर भरोरा घणे तारे हो।
कुथुए बी आई काली बादली हो कुथुए दा बरसेआ मेघा हो।
छातिए बी आई काली बादली हो नैंणा दा बरसेआ मेघा हो।
रगत थिआ भाउआ बगत थिआ लागू थिए सभ कोई हो।
रगत मुका भाउआ बगत मुका बात नी पुच्छदा न कोई हो।
बाहर जांयां धीए ईज्जे हो बाहर कुण माण्हु सीज्जे हो।
इक ता सीज्जे मेरे कागज हो दुआ बो सीज्जेया मेरा हार हो।
जली बो रित्ते संगढ़ौणियेए हो तें मेरी कदर के पाई हो।
जली बो रित्ते संगढ़ौणिए हो तें मेरी सौंक गुआई हो।
थोड़ ध्याड़ुआ जीणा हो तें झाणे ईणा कि नी ईणा हो।
हाय बो प्यारुआ जोबणा हो उंजलुए भरी-भरी पोणा हो।
नथुआ बजीरा बाजी तेरी हो कुणी बो हारी कुणी जीती हो।

सरलार्थ :

हे भाई मेघराज तूं चम्बा देश पर बरसना। (यहां यौवना अपने रूप के निखार की कामना करती है-रूपक है।) मेघराज उसके उत्तर में अपनी विवशता जतलाते हुए कहता है कि मैं किस तरह अपनी बिजली की चमक दे सकता हूं और गर्जना भी किस प्रकार कर सकता हूं। क्योंकि आकाश तो तारों के साथ भरा हुआ है। यह यौवन के ढ़ल जाने का रूपक है। ये काली बादलियां कहां से आई थी और कहां से यह मेघ बरसा था। (यहां क्षणिक यौवन का रूपक है) छाती से काली बादली चढ़ी थी और नयनों से पानी बरसा था। (यहां यौवन और उसके विरह का सांगरूपक है) हे भाई मेघराज! जब यौवन था तो मेरा समय भी था अर्थात मेरी कदर थी, अब यौवन चला गया मेरी कदर घट गई और अब मेरी बात तक नहीं कोई पूछता। मां अपनी पुत्री का ध्यान बटाने हेतू कहती है कि हे पुत्री! तू बाहर जाकर देखो तो तेरी प्रतिक्षा में कौन-कौन से मनुष्य वर्षा में भीग गए हैं। पुत्री अपनी तल्लीनता सी भंग करती बाहर जाती है और बाहर से अपने कुछ कागजों (चिट्ठियों) और अपने शृंगार की माला को भीगने की ओर इशारा करती है (उसे अपना कोई प्रतीक्षक नजर नहीं आता)। वह वापस आकर फिर उसी तरह यौवन-विरह में डूब जाती है। सहसा ऋतु को दोषी ठहराती हुई कहती है कि यह ऋतु (वर्षा ऋतु) भी कितनी उदासीन है। तूने मेरे यौवन की कदर नहीं की अर्थात तू सदा युवा नहीं बनी रही। हे उदासीन वर्षा ऋतु तूने मेरा सारा शौक समाप्त कर दिया अर्थात यौवन बड़ी जल्दी ढल गया। हाय यह छोटा सा जीवन (यौवन) न जाने फिर दुबारा अब आयेगा

भी या नहीं, अर्थात नहीं। हाय मेरे प्यारे यौवन तू अगर एक बार फिर आ जाये तो मैं तुझे अंजली भर-भर पीऊंगी। ओ नत्थु बजीर जी (नथु नाम का चम्बा का एक अति सुन्दर और बलवान मन्त्री हुआ है) तेरा पासा सदा ऊपर रहा है अर्थात तेरे ऊपर सदा यौवन शक्ति छाई रही।

प्रकृति का अघात मानव संस्करों के साथ :

शीत ऋतु धरा की सभी महत्वाकाक्षाओं को निगल जाती है, अंग शिथिला जाते हैं और यौवन मुरझा जाता है। तभी फाल्गुण भीनी सी वासना दे जाता है। और ऋतुराज-बसंत रति-कामना भर जाता है। प्रकृति किशोरावस्था से यौवनावस्था की ओर पदार्पण करती है। उसके रूप पर निखार आने लगता है। तभी रूप रस का कामुक लुटेरा भ्रंमर अपना प्यार जितलाने आ जाता है। न जाने वह निष्ठुर आज तक कहां था, यह प्रश्न प्रकृति भी उससे नहीं पूछती। यौवन के मद में डूब कर विरह की वे शीतल अन्धकारमयी घड़ियों को भूल कर अपना हृदय उस स्वार्थी के आगे खोल कर उसे अंलिगन करने देती है। ठीक भी है, दया और क्षमा ही तो प्रकृति का स्वभाव है। इसी रहस्यमयता के ब्याज में धरा अमरत्व पाती है। और दूसरी ओर स्वार्थी, कपटी आदि अनेक अवगुणों से गुँथा भ्रमर बार-बार जन्म-मरण के आवागमन में पड़ा रहता है।

फाल्गुण और चैत मासों का हमारे पहाड़ी प्रदेशों में विशेष महत्व है। शीत ऋतु की कठोरतम यातनाओं और घोर उपद्रवों से बचकर जीवन जब फाल्गुण के द्वार से चैत मास की बसंती हंसी को देखता है तो उसे चेतना का आभास होता है। अब उसे खुदा के व्यवधान का एहसास होता है। शीत प्रहारों और प्रिय जन के विसर्जन मानव हृदय के क्षितिज से बरस पड़ते हैं। हृदय सागर का विडोलन चक्षु द्वार से प्रभावित हो उठता है। मानव हृदय कांप उठता है और वह साधारण मास का नाम तक लेने के लिए डरता है।

हिन्दु सम्प्रदाय की एक प्रथा के अनुसार किसी अशुभ, अपवित्र अथवा अनैच्छिक वस्तु, दिन, मास एवं स्थान व घटना का नाम न लेकर उसको या तो उपनाम लेकर पुकारते हैं अथवा उसका नाम शूद्र जाति के मुख से सुनते हैं। इसी प्रकार शुभ नाम सुनने के लिए ब्राह्मण को बुलाया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में नाम सुनाने वाले को प्रसन्न किया जाता है। अर्थात दान/इनाम देने की प्रथा है।

शूद्र जाति की एक प्रशाखा डोम या डूम विशेषकर चैत मास (यहां के लोग इसे काला महीना भी कहते हैं और इसीलिए इस मास में स्वर्ण जातियां कोई शुभ कार्य नहीं करती) का नाम सुनाने के लिए मास के पहले आठ दिन घर-घर जाकर चैत मास का नाम सुनाया करती हैं और उसके बदले में अच्छा-खासा इनाम पाती हैं। शीत काल के उपद्रवों को पुन: न घटित होने देने की कामना से लोग प्रसन्न होकर उन्हें दान (इनाम) देते हैं। इस प्रकार एक ओर जहां सामाजिक मूल्यों की स्थापना होती है तो दूसरी ओर समाज सुख की कामना भी की जाती है।

डोम जाति के लोग ढोलक को वस्त्र से ढक कर अपने बझिए (स्वर्ण लोग) को ढोलक पर वस्त्र रखने के लिए प्रेरित करते हैं। चूंकि वे सभी के सभी संस्कार गीत ढोलक के साथ गाये जाते हैं। अतः इन संस्कार गीतों का नाम ही "ढोलरू" प्रसिद्ध है। ढोलरू केवल चैत मास के नाम को सुनाने मात्र के संस्कार गीत नहीं है अपितु इन में सभी प्रकार के बलिदानों की एतिहासिक घटनायें वर्णित हैं। अशुभ घटनायें, अशुभ प्रथायें ढोलरू के मुख्य विषय हैं। राजा गोपी चन्द का गृह त्याग, रूप बसंत के बलिदान, पूर्ण भक्त की यातना की कहानी तथा चम्बा की राजमाता का अपनी प्रजा के लिए आत्म बलिदान सरीखी ऐसी घटनाएं इन ढोलरूओं में वर्णित हैं। जिन्हें सुन-सुन कर आदमी का कलेजा दहल जाता है। समाज और प्रकृति दोनों के अत्याचारों का सजीव चित्रण आपको इन गीतों में मिलेगा। कौन सी वह आंख होगी जो इन्हें सुनकर छलक न पड़ेगी ?

उन्हीं में से एक संस्कार गीत मैं आपके सामने रख रहा हूं। जिसमें सामाजिक शिष्टाचार के साथ-साथ प्रकृति के कोप और उसके परिणामों का सुष्ठु वर्णन है :

पहला ता नां लेइए नारान दा न,
जिनी सारी सृष्टी उपाई।
दुज्जा ता नां लेईए माई-बाप दा न,
जिन्नी जम्मीं दसेया संसारा।
तीज्जा ता नां लेइए गुरू अपणे दा,
जिनी सारी विदया पढ़ाई।
आया ता चैत्र सों धर्मियां न,
सुणी लेयो धर्मी परिवारो।
तुस्सी तां जीयो बझियो लख्ख बरहां न,
आई रित्त बसदी बहारा।
रित्तां ता मेरेयो बझिए फिरी आईयां न,
माणस फिरेया न कोई।

सरलार्थ :

सब से पहले हमें नारायण का नाम लेना चाहिए जिसने सारी सृष्टि को पैदा किया है। दूसरे स्थान पर माता-पिता का नाम लेना चाहिए जिन्होंने जन्म देकर हमें इस संसार में लाया। तीसरे स्थान पर अपने गुरू का नाम लेना चाहिए जिसने हमें सभी प्रकार की विद्या पढ़ाई है। हे धर्मी परिवार वालो चैत का महीना आ गया है इस का नाम सुन लो। हे हमारे भाग्यविधाताओ अब बसंत की ऋतु आ गई है (ईश्वर करे) आप की आयु लाखों वर्ष हो। (यहां दलित जाति, 'गुलाम' अपने आकाओं के हित में दुआ मांगने की प्रथा को निभाते हुए अनिश्चित काल तक की आयु को कामना करने की अतिश्योक्ति अभिष्ट है।) हे आकाओ ऋतुएं तो दुबारा आ जाती हैं परन्तु मनुष्य जो एक बार हमसे बिछुड़ जाता है दुबारा हमें इस धरती पर नहीं मिलता।

तीज त्यौहार पावन संस्कार :

संसार का शायद ही कोई ऐसा भू भाग होगा जहां वर्ष भर में किसी तीज त्यौहार का आयोजन न किया जाता हो। तीज त्यौहार मेला-मल्हार आदि अपनी व्यक्तिगत विशेषता के आवरण में कोई न कोई ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि लेकर नित नये संस्कारों का समावेश करते, समय की कड़ियां पिरोते-पिरोते जिस रूप का दिग्दर्शन कराते हैं वही हमारी सभ्यता की पराकाष्ठा मानी जा सकती है। मानव का पिपासु हृदय अपनी विचित्र रंगीनियों का दर्पण है। और उसकी छवि रूप हमारे उत्सव हैं।

उपरोक्त विचारों के आधारभूत ये सांस्कृतिक पृष्ठ चम्बा की घाटियों में सृजित हुए थे। जिनका अमरत्व उनके सजीव संस्कारों द्वारा अपेक्षित रहा है। उस संस्कार गीत की एक संगीत लहरी उस घटना को लेकर फूट पड़ी थी जब एक नव-विवाहिता वैशाखी के त्यौहार के शुभअवसर पर अपने माता-पिता द्वारा नहीं बुलाई गई अथवा उसके प्रति उदासीनता का भाव दर्शाया गया था।

वैसाखी के त्यौहार को कई कारणों से महत्व प्राप्त है। पंजाब की वैसाखी तो संसार में सुप्रसिद्ध है ही। अपने-अपने स्थान की प्राथाओं के अनुसार लोग इस त्यौहार को मनाते हैं। चम्बा की पांच तहसीलों में भी प्राय: कई रिवाज एक जैसे नहीं मनाये जाते पर थोड़ी बहुत समानता तो फिर भी सभी स्थानों में देखने को मिलती है। निम्न उद्धृत गीत तो चम्बा के समस्त जन समुदाय के संस्कारों का मनोवैज्ञनिक विश्लेषण है। त्यौहारों पर बहु-बेटियों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि माता-पिता का चिर प्यार और तीज त्यहौारों पर आकांक्षाओं के आदान-प्रदान त्यौहारों पर ऋतुओं एवं संस्कार के अनुसार सामाजिक तौर तरीके और उनके पीछे सभ्यता का प्रमाण आदि-आदि कुछ ऐसे तथ्यों का स्वत: ही विश्लेशण अथवा पुनर्भ्यास हो जाता है जिनसे नूतन पीढ़ियां अपने पूर्वजों के संस्कार ग्रहण करती रहती हैं।

बिस्सू, बसोआ या वैसाखी वैशाख की सक्रान्ति के ही पर्याय हैं। पिन्दड़ी, गुड़ाणी आदि चम्बयाली बोली के शब्द भोजन विशेष के व्यावहारिक शब्द हैं। जिनका प्रचलन अति प्राचीन है। कोदा, मक्की अथवा दोनों अनाजों के मिश्रण से गुलाब जामुन की भान्ति के गोल-गोल आटे को उबलते पानी में उबाल्लने के बाद हरे पत्तों में तीन चार दिन छाछ की फुहार डाल कर खट्टा करके गुड़ को दूध अथवा पानी में उबाल कर या शहद के साथ चम्बा के लोग बड़े चाव से खाते हैं। ऐसा खाना सभी वर्ग के लोग खाते हैं। और अभ्यागत आदि को उस दिन अपने घर खिलाना सौभाग्य एवं शुभ संस्कार का लक्षण माना जाता है।

इसी प्रथा को लेकर विवाहित लड़कियां अपने मायके से विशेष बुलावा अथवा विशेष प्रकार का भोजन (पिन्दड़ी की सौगात) वैसाखी वाले दिन पर भेजने की अपेक्षा रखती हैं।- उस प्रथा का किसी प्रकार निर्वाह न होते देख, माता-पिता की दुलारी अपने ससुराल से अपना क्षोभ उपालम्ब के रूप में अपने मायके भिजवाती है। उसी भावना को लेकर किसी लोक कवि ने अपनी रचना का सृजन कर डाला।

गीत का आरम्भ अति भावुकता से ओत-प्रोत और मार्मिकता का सुन्दर स्रोत है। यह संसार के प्रमुख वियोग गीतों में रखा जा सकता है। मां के हृदय की विमुखता को हमारे लोक कवि ने नदी और उसकी सन्तान मछली का रूपक बांध कर ऐसी की है कि देखते ही बनता है। कवि कहता हैं कि नदी के गति में फरेब आ गया है। वह अपने गर्भ में पली मच्छली (सन्तान) से विमुख हो गई है। दूसरे शब्दों में उसका क्षोभ मां को उसके ऐसे व्यवहार पर उपालम्भ देती हुई कहती है कि :

कुरले-कुरले नदी जमना गिरे नदी गिरान्दडेया मच्छा हो।
बारे तिहारे माये बिस्सु आया बापू सदवारा न भेजे हो।
होरनी रे भाई माये सादे आये मेरा सदवारा नी कोई हो।
भाऊ ता तेरा कुड़िये निक्का याणा बिखड़े पैंड़े कियां भेजा हो।
बापू ता धीये तेरा बुडढा स्याणा बिखड़े पैंड़े किहां भेजा हो।
जिन्हां दे घरे धीये याणे स्याणे तिन्हां अप्पु ईणा अप्पु जाणा हो।
होरणी रि धीया माये अपणे घरे तेरी नमाणी रा न कोई हो।
पिन्दड़ी-पिन्दड़ी भाउए अप्पु खाई पिन्दड़ी रे पटठे मिंजो भेजे हो।
गुड़ ता गुड़ाणी माये अप्पु खाये गुड़े केरा पाणी मिंजो भेजे हो।

सरलार्थ :

यमुना (नदी) अब कुरल (फेर) डाल कर बहने लगी है। ओ नदी में रहने वाली मच्छलियों अब तुम्हारा क्या बनेगा? एक वर्ष के बाद वैशाखी आई है, पिता ने मेरे लिए कोई बुलावा नहीं भेजा है। औरों के भाई अपनी बहिनों को बुलाने के लिए आ चुके हैं परन्तु मेरे लिए मेरे पिता ने कोई बुलावा नहीं भेजा है। मां उत्तर में कहती है कि तुम्हारा भाई तो छोटा है। उसे इन पहाड़ी रास्तों पर कैसे भेज सकती हूं? पिता के लिए भी मां उत्तर देती है कि तेरे पिता तो बूढ़े हो गये हैं। उन को इन पहाड़ी रास्तों में कैसे भेज सकती हूं? हे बेटी जिन के मामके में बुलाने वाले बच्चे हों अथवा बूढ़े हों उन्हें स्वयं ही अर्थात बुलावे की प्रतीक्षा किए वगैर ही चले आना चाहिए। हे मां औरों की लड़कियां तो आज (बुलावा) पाकर अपने-अपने मायके पहुंच चुकी हैं पर एक तेरी ही लड़की का आज (त्यौहार वाले दिन) कोई नहीं है। पिन्दड़ी-पिन्दड़ी तो मेरे भाई ने स्वयं खाई और उसके पट्ठे (पत्ते) जूठन (मुझे मनाने के लिए) भेज दिए हैं। गुड़ और गुड़ाणी (दूध में घुला गुड़) तो स्वयं खाया और उसकी जूठन मुझे भेज दी है।

बदलते समाज के बदलते आयाम :

लोक गीत संस्कृति का उत्तरदायित्व निभाते हैं। समय की गति के साथ समाज को बदलते देखकर स्वयं भी बदल जाते हैं। यानि कि गंगा गए गंगा दास यमुना गए यमुना दास की वृति अपनाते हैं। लोक गीत लोक गति के प्रतीक, संस्कृति के उद्बोदन और युगद्रष्टा होते हैं। जिज्ञासू हृदय का नैसर्गिक प्रतिमान बन कर युग विशेष पर छाये रहते हैं। इनका जन्म भावनाओं की प्रमुखता लिए समाज के प्रत्येक कोने में होता है। इसलिए अन्नत रसों से भरी

गीत वाटिकायें अपने शरीर पर अन्नत रंगों के पुष्प बिखेरती है। जिनकी सुगन्धी से तीनों काल महक जाते हैं। और प्रत्येक नवागन्तुक को अपने प्राणों में छिपे अल्हाद एवम् प्रसाद से प्रसादित करते रहते हैं। काफिला निकल जाता है पर उनके कदमों के निशान समाज के धरातल पर सदा बने रहते हैं। अपने नक्शे कदम पर चलने वालों को अपना हृदय खोल प्रवंचनाओं के झमेलों से सावधान रहने के लिए चीखते पुकारते हैं। एक ओर आनन्द के गहवारे दूसरी ओर भावनाओं की यातनाओं के स्थूल चित्र पेश करते हैं। यह सब कुछ उन में समाया होता है, उन्होंने पाया होता है और समय को समझाया होता है।

कई बार स्थान अपनी विशेषता और भविष्य अपने जन्म के साथ ही लेकर चलता है। सुरगाणी नामक स्थान जहां एशिया का सबसे बड़ा पन-बिजली घर बन गया है कभी एक छोटा सा अहेतू गांव हुआ करता था। उसने अपना नाम सम्भवत: स्वर्गलोक से ही प्राप्त किया था कि वहां सुरंग-आनी (सुरगांनी) है। 8 कि०मी० लम्बी सुरंग आज वहां बन गई। और उस गांव ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। लोक कवि भी कम नहीं निकले उनके हृदय से निकली स्वर गंगा इस ऐतिहासिक घटना को अपने में प्रवाहित कर गई। ज्यों-ज्यों उस गांव का भाग्य बदला लोक कवि की भाव-दृष्टि उसी प्रकार घूमती गई। जहां वह प्रेम के सूक्ष्म तार भावनाओं के धरातल से खींचता था। वहां वह आज समाज के कठोर धरातल से भी उसी प्रकार खींच लाने में समर्थ हुआ और उसने निम्न गीत अपनी नई वैज्ञानिक पीढ़ी को दे डाला।

सेउंअ और सुरगाणी दो गांव बैरा-स्यूल-पावर हाऊस के जन्म स्थल हैं। बैरा-तीसा-चांजू तथा स्यूल नामक नालों को इकट्ठा करके सुरंग द्वारा डैम बांध कर पावर हाऊस (उपरोक्त गांव) तक लाया गया है। गाने में लोक कवि ने जीवन के नये मोड़ों को प्रेमाश्रय देकर नवीनता का प्रदर्शन किया है। उसने रूढ़िवाद को किनारे फैंक कर नये प्रयोगवाद का सहारा लिया है। यथा :

सेउंआं सुरगाणी नौंआं डैम बणेआ,
कहुए दी कुहाड़ी दा मैदान बणेआ।
सेउंआं सुरगाणी नौंआं शैहर बणेआ,
लोक बो गलांदे बड़ा छैल् बणेआ।
नौंआं ऐक्सीन नौंएं रेट भरदा,
चम्बे कनें बड़ा हेर फेर करदा।
सड़क बणाणी कैंची मोड़ लगदा,
झब्बल उठाणा बड़ा जोर लगदा।
उठ खड़ी रेसो मिजो चाह बणाई दे,
नौ बजे पुजणा सुरगाणी जाई के।
चाही रा रवाज पहले कोई न थिया,
टी० बी० रा मरीज पहले कोई न थिआ।
नौंएं-नौंएं माहणु नौंई गैंग लगदी,

रेसो टैरिकोटे केरा सूट मंगदी।
चम्बे रा मजूर असां के करणा।
भिके रा मजूर असां पेश्रा भरणा।
सुंडले स्कूले अग्गे नहर बगदी,
आया रबी बाबू मिजो लहर लगदी।

सरलार्थ :

सेंउआं और सुरगाणी में नया पावर हाऊस बन गया है। और काहू के जंगलों को काट कर मैदान बना दिया गया है। सेंउआं और सुरगाणी में एक शहर बन गया है लोग कहते हैं कि बड़ा सुन्दर बना है। नया एक्सियन आया है जिसने मजदूरों को नए रेट दिए हैं परन्तु वह लोगों से बड़ा हेर फेर कर रहा है। सड़कें बनाते हुए कैंचीं की शक्ल के मोड़ बन रहे हैं। झब्बल उठाने के लिए बड़ा जोर लग रहा है। हे रेसो तूं उठ कर मुझे चाय का एक प्याला बना दे मैंने नौ बजे सुरंगाणी पहुंचना है। चाय पीने का पहले कोई रिवाज न था तब टी० बी० की बीमारी से कोई भी आदमी पीड़ित नहीं होता था। नये-नये आदमी आये हैं और काम पर नई-नई गैंगे लगती जा रही हैं। उन लोगों से रेसो टैरिकोट के कपड़े का सूट मांगती है। चम्बा का मजदूर हमारे किस काम का, हमें तो पंजाब से लाया हुआ मजदूर काम पर लगाना पड़ा। सुंडला स्कूल के आगे से एक नहर बह रही है। मुझे रवि बाबू के आने पर नराजगी हो रही है।

स्वर एवं शब्दों की अनन्ता भावों का रूप धारण कर युगों पर अपनी छाप छोड़े जाती है। न जाने आज दिन तक मानव सभ्यता के आयाम समय के मलवे के नीचे दबे पड़े हैं। जिनका आकार ढूंढ पाना हमारी बेबसी है। भावनाओं के गीति खण्डहर मृत्यु से उठकर मौन प्रतीक्षा में हैं। जिनका उत्खनन संकलन तथा पुनर्जागरण आज के समाज के लिए उपयोगी प्रेरणा है।

पृथा स्वयं ईश्वर के संस्कार रूप का स्थूल प्रमाण है। प्रकृति के संस्कारों का आयोजन मात्र है। संस्कार सूक्षतम और प्राचीनतम हैं। ये ही कभी वेदों में कभी पुराणों में ढलते-ढलते मानव को पाश्विकता की स्थिति से उठा कर मानवता के धरातल तक ले आये और न जाने अभी आगे उसे कहां ले जाएं। इस समय कहना कठिन है। आज का युग, युग चेतना और युग वेता संस्कारों का मुजस्सिमा है। सूर्य का रूप लेकर आये संस्कार धूप की तरह धरती पर सज-संवर कर, निखार कर प्रकृति के समस्त भावों, अनुभावों और बिभावों को समेट कर उस अनन्त आलोक में समा जाते हैं।

खण्ड शिक्षा अधिकारी,
चुवाड़ी, जिला चम्बा (हि०प्र०)

निरमण्ड का भुण्डा महायज्ञ–१९८१

–खेमराज गुप्त

निरमण्ड शिमला तकरीबन १३८ कि० मी० की दूरी पर स्थित है। हिमाचल प्रदेश के बड़े गावों में एक। शायद सारे प्रदेश में एक आध ही ऐसा गांव होगा जो निरमण्ड जितना बड़ा घनी आबादी वाला हो। इस गांव का अपना ही एक इतिहास है बहुत पुराना। जिला कुल्लू के बाहरी सरोज क्षेत्र का यह गांव अपने में अतीत की कई कहानियां संजोए हुए है। बहुत पुराने जमाने में इस गांव का नाम 'नृमुण्ड' भी था और 'श्री पटल' भी। दस महा अवतारों में छठे अवतार भगवान परशु राम ने निरमण्ड में तपस्या की और भुण्डा यज्ञ शुरू किया। ऐसी मान्यता लोगों में है। १९३३ तक भुण्डा महायज्ञ हर १२ वर्षों के पश्चात् आयोजित किया जाता था। फिर १९३३ में जो भुण्डा यज्ञ हुआ तो उसके बाद कए लम्बे समय तक इस यज्ञ का आयोजन नहीं हो सका। १९३३ के बाद १९६२ में भुण्डा आयोजित किया गया। और एक बार फिर लम्बा अन्तराल आ गया लगभग १९ वर्षों का। उन्नीस वर्षों बाद इस वर्ष १९८१ में एक बार फिर भुण्डा महायज्ञ का आयोजन किया गया इसी निरमण्ड गांव में।

वैसे तो भुण्डा यज्ञ के लिए तैयारियां फरवरी महीने से ही शुरु हो गई थीं। कोठी मन्दिर में हवन यज्ञ फरवरी १९८१ से शुरू किया गया था। इस हवन यज्ञ की अपनी ही एक कहानी है, तौर तरीका है।

निरमण्ड निवासियों ने जब यह तय कर लिया कि १९८१ में भुण्डा यज्ञ का आयोजन करना ही है तो विधिवत तैयारियां शुरू हो गई। १९६२ में जो हवन कुण्ड ढक दिया गया था, उसे खोला जाना था। वास्तव में यहीं से भुण्डा यज्ञ का श्रीगणेश माना जा सकता है। हवन कुण्ड को खोलने का महूर्त ज्योतिषियों ने निर्धारित किया २६ माघ रात के दो बजे। हवन कुण्ड को साफ करने और अग्नि प्रज्वलित करने का काम सुनार जाति के लोग करते हैं। २६ माघ की रात को सुनार लोग वाद्य यन्त्रों को बजाते हुए कुछ गांव वासियों को लेकर शास्त्री लक्ष्मीनन्द जी के घर पहुंचे। क्योंकि भुण्डा यज्ञ में हवन कुण्ड के लिए जो अग्नि लाई जाती है वे शास्त्री लक्ष्मीनन्द या इनके पूर्वजों के घर से ही लाई जाती है, किसी अन्य स्थान से नहीं। तांबे की एक अंगीठी बनाई जाती है। साथ में एक मेंढा लिया जाता है। शास्त्री जी के घर में (वही एक परिवार विशेष) विधिवत देवदार की लकड़ी को घिस कर आग तैयार की गई फिर उस आग को तांबे की अंगीठी में रख दिया गया और जब हवन-कुण्ड की ओर चलने का समय हुआ तो आग की वह अंगीठी मेंढे के सिर पर रख दी जाती है। कुछ

सोमसी

लोग अंगीठी को मेंढे के सिर पर थामे रहते हैं ताकि अंगीठी गिर न जाए। मेंढे को अग्नि के वाहन के रूप में मान्यता दी जाती है। जुलूस कोठी के हवन कुण्ड के पास पहुंचा। उस शिला पर हवन किया गया जिससे हवन कुण्ड ढका रहता है। अग्नि वाहन मेंढे की बलि दी जाती है। और उसका कटा सिर वहीं हवन कुण्ड के पास ढका रहता है तब तक जब तक कि मेले और यज्ञ की पूर्णाहुति नहीं हो जाती। सुनार परिवारों ने हवन कुण्ड को साफ किया। १९६२ में जो हवन हुआ था उसकी भस्म निकाली गई और सुनारों ने आपस में बांट ली। इस भस्म पर उनका ही एकमात्र अधिकार माना जाता है। किसी जमाने सारे में निरमण्ड में ६० सुनार परिवार थे। आज भी उन्हें साठ सुनारों के नाम से ही पुकारा जाता है। भले ही अब उनके केवल १०-१५ घर रह गए हैं। भस्म को इन लोगों ने अपने खेतों में बिखेर दिया। इस आशा और कामना के साथ कि उनके खेतों की उपज बढ़ेगी। वही अंगीठी हवन कुण्ड में रख दी गई और अग्नि प्रज्वलित कर दी गई। रोज हवन होता रहा। ९ फरवरी से लेकर १२ सितम्बर तक। हवन कुण्ड पर यज्ञेश्वरी की मूर्ति का निर्माण भी किया जाता है। यह काली की मूर्ति होती है। उसकी प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। और उसी के समक्ष हवन होता है। जौ, गेहुं, घी, आटा। एक समय जौ, गेहुं, घी की और दूसरे समय मांस, मदिरा की अहुतियां दी जाती हैं। वैदिक-रीति और तांत्रिक रीति का हवन अपने आप में एक विशेषता है। यह हवन कोठी (मन्दिर का भवन) में आरम्भ होता है। मंत्र हस्तलिखित पोथियों से ही पढ़े जाते हैं जो पण्डितों के पास सुरक्षित हैं।

भुण्डा शब्द सम्भवत: भण्डार से ही बना है। क्योंकि यज्ञ में शामिल होने वाले अतिथि देवताओं और सभी आमन्त्रित व्यक्तियों तथा यज्ञ में किसी न किसी रूप में भाग ले रहे सभी व्यक्तियों को कोठी के भण्डार घर से ही भोजन मिलता है। इस बार निरमण्ड के प्रत्येक परिवार की ओर से ३२ किलो आटा, ३२ किलो चावल, दो किलो जौ, एक किलो माश, आधा किलो देसी घी और ३० रुपये तक, भण्डार में देने का निश्चय किया गया था। इसके अतिरिक्त जितने भी निरमण्ड निवासी सरकारी कर्मचारी थे उनसे कुल आय का २० प्रतिशत यज्ञ भाग के रूप में अनुदान लिया गया था : हिमाचल कला संस्कृति आर भाषा अकादमी की ओर से अध्यक्ष अकादमी द्वारा पन्द्रह हजार रुपये की राशि अनुदान के रूप में दी गई थी। अनुमान है कि ८ सितम्बर से १२ सितम्बर, १९८१ तक ३०० क्विंटल राशन भण्डार से बांटी गई।

कोठी में ही भगवान परशुराम का मन्दिर है। इस मन्दिर को चौकी कहते हैं। चौकी के गुफा मन्दिर में ही भगवान परशुराम की मूर्ति रखी रहती है, जिस भुण्डा के अवसर पर ही बाहर निकाला जाता है अन्यथा मूर्ति गुफा मन्दिर में ही बन्द रहती है। मूर्ति को बाहर निकालने का भी मुहूर्त निकाला जाता है। और फिर एक ब्राह्मण परिवार विशेष का सदस्य, उसके साथ तीन सुनार परिवार के सदस्य, गुफा मन्दिर में प्रवेश करते हैं। उनके एक हाथ में मशालें होती हैं और दूसरा हाथ खाली होता है। मुहूर्त के अनुसार पंक्ति में यह लोग गुफा मन्दिर में प्रवेश करते हैं। बिना एक दूसरे के बात किए, ब्राह्मण परिवार का सदस्य परशुराम जी की प्रतिभा को गुफा मन्दिर से बाहर लाता है। साथ के बाकि लोग जो सामग्री वहां से उठा सकें, उठा लेते हैं और बाहर आते हैं। इस

वर्ष थोड़ा परिवर्तन यह किया गया था कि भगवान परशुराम की प्रतिभा को कोठी के प्रांगण में एक मण्डप बनाकर दर्शनार्थ रखा गया था। साथ ही प्रदर्शित की गई थी वे चीजें जो गुफा मन्दिर से निकाली गई थी। पहले मूर्ति और बाकी की चीजें चौकी की ऊपरी छत वाले कमरे में रखी जाती थी और स्वर्ण ही दर्शनार्थ उस कमरे में जा सकते थे। इस बार कोठी के प्रांगण में बनाए गए मण्डप में ही मूर्ति और अन्य सामान रखा गया था। चरणामृत के रूप में पिछले भुण्डे को भरे गए कलश का पानी ही दिया जाता है। हैरानी की बात है कि लगभग १६ वर्ष पूर्व भरा गया जल अभी तक स्वच्छ साफ और स्वादिष्ट था। इस बार का भरा गया जल कलश अगले भुण्डे के अवसर पर ही निकाला जाएगा। कलश लाटा बावड़ी पर 'बाण गंगा' चश्में से भरा जाता है। विधि विधान के साथ बाण गंगा चश्मे के साथ एक मान्यता जुड़ी है कि भगवान परशुराम जी को यज्ञ में जब गंगाजल की आवश्यकता अनुभव हुई तो उन्होंने बाण मार कर इस स्थान पर गंगा जल प्रस्फुटित किया था। इस वर्ष मूर्ति को गुफा मन्दिर से बाहर निकाले जाने का मुहूर्त निश्चित हुआ था ३० अगस्त आधी रात को। लोग जिसे परशुराम जी की मूर्ति कहते हैं वह वास्तव में त्रिमूर्ति शिव की अष्ट धातु की सुन्दर प्रतिमा है। जब लोगों से पूछा गया कि शिव प्रतिमा को आप परशुराम प्रतिमा क्यों कह रहे हैं तो उनका सहज स्वाभाविक उत्तर था कि भगवान परशुराम तो चिरंजीवी हैं। उनका आदेश है कि शिव रूप में भी मेरी पूजा करने से भी वही फल प्राप्त होगा। भावना में ही भगवान हैं। और निरमण्ड निवासी तथा मेले में भाग लेने वाले अन्य ग्रामों के जो लोग अपने-अपने देवताओं के साथ आये थे त्रिमूर्ति को ही 'परशुराम' जी कह कर शीष नवा रहे थे। अस्तु! गुफा मन्दिर से मूर्ति के साथ जो अन्य चीजें निकली या निकाली गई थी वे थी एक धनुष, दो बुद्ध प्रतिमाएं जिन्हें स्थानीय लोग इन्द्र और इन्द्राणी कह रहे थे। एक स्वर्णहार (बहुत कीमती और कलात्मक) एक चांदी की अंगूठी। (जो कांगन जितनी बड़ी थी) एक कमण्डल, एक अन्य पात्र, एक खड्ग और पिछले भुण्डे के अवसर पर भरा गया जल कलश। अनुमान है कि लगभग तीस हजार व्यक्तियों ने इस वर्ष भुण्डा महायज्ञ देखा। ८ सितम्बर से १२ सितम्बर १९८१ तक, हर रोज एक न एक रस्म यज्ञ के प्रमुख अनुष्ठान के रूप में आयोजित की जाती रही।

८ सितम्बर की रस्म का नाम था—"दीया धारणा" ८ सितम्बर को मंगलवार था। 'दीया धारणा' का कायक्रम कोठी मन्दिर में शुरू हुआ, ढोल नगारा, शहनाई, करताल, भगवान परशुराम और भगवती अम्बिका की प्रतीक चांदी की छड़ियां, निशान आदि के साथ एक जलूस निकाला गया। जलूस में भगवती अम्बिका का प्रतीक एक जल कलश था जिसे सुनार जाति का व्यक्ति अपने सिर पर उठाए हुए थे। ढोल निशान साथ थे जलूस पांच मन्दिरों में जाता है। ये मन्दिर हैं, अम्बिका मन्दिर, दक्षिण महादेव, सांयकार, चण्डी और लक्ष्मी नारायण। प्रत्येक मन्दिर में एक-एक दीपक प्रज्वलित किया जाता है। इसे भगवती अम्बिका और भगवान परशुराम की ओर से यज्ञ का विधिवत् श्री गणेश समझा जाता है।

९ सितम्बर बुधवार को होने वाले विशेष कार्यक्रम का नाम है 'छमड़ छड़ी'। इस रोज सभी आमन्त्रित देवताओं का निरमन्ड के दशनामी अखाड़े में विधिवत स्वागत-सत्कार किया

सोमसी

गया। २३ देवताओं के प्रतीक कलश एक गोल दायरे में रखे गए थे। बीच में था भगवती अम्बिका का कलश। जिन शास्त्री जी के घर से हवन के लिए अग्नि लाई गई थी उन्होंने भी अपनी एक हस्तलिखित पुस्तिका को पढ़ कर देवताओं का स्वागत किया। शास्त्री जी कश्यप गोत्री ब्राह्मण हैं। और उन्हीं के परिवार को देवताओं के स्वागत में पोथी पढ़ने का अधिकार है। श्लोकों के अनुवाद स्वरूप बताया गया है कि कितने लोक हैं। कौन-कौन लोक कहां-कहां स्थित है। पृथ्वी की उत्पति कैसे हुई। आकाश कैसे बना। पाताल कैसे बना। पोथी पत्री नहीं पढ़ने दी जाती है। क्योंकि थोड़े से विवरण को सुनने के पश्चात् देवताओं के प्रतीक कलशों को उनके उठाने वाले तुरन्त उठा कर कोठी मन्दिर की ओर चले जाते हैं। और कोठी के कमरे में उन्हें प्रतिष्ठत कर दिया जाता है। जहां मेले के अन्तिम दिन अर्थात पूर्णाहुति तक वे रखे रहते हैं। पूर्णाहुति के पश्चात् इसी दशनामी अखाड़े से कलशों को विदाई दी जाती है।

१० सितम्बर को होने वाला कार्यक्रम था 'जल जात्र'। जल जात्र एक प्रकार के जल पूजन या वरुण पूजन का उत्सव ही है। निरमण्ड और आस-पास के गांवों की महिलाएं पारम्पारिक वेशभूषा में कलश पूजन करती हैं। मुख्य जलूस कोठी मन्दिर के ही वाद्य यन्त्रों और ढोल निशान के साथ लाटा बावड़ी तक पहुंचता है। जलूस में ६ कन्याएं अपने सिरों पर लाल कलश लिए चलती हैं। उनके पीछे-पीछे होती हैं पारम्पारिक वेशभूषा में नर्तकियां। ब्राह्मण लोग लाटा बावड़ी का एक शिला पर कलश रखते हैं। वही बाण गंगा का जल चश्में से बहता है। उसी जल से कलश फिर भर जाता है। फिर उस कलश का पूजन होता है। यही कलश आगामी भुण्डे में बाहर निकाला जाता है। गुफा मन्दिर से इसी जल का चरणामृत बांटा जाता है। बावड़ी पर महिलाएं अपने सतित्व की परीक्षा देती हैं। मान्यता है कि बावड़ी में प्रवेश करने पर जिस महिला का वस्त्र (लम्बा कुरता जो घेरेदार होता है) बावड़ी में डूब जाए वह स्त्री सती साध्वि मानी जाती है। वस्त्र डूबने के पश्चात् महिला कलश का पूजन करती है धूप दीप नैवेद्य से और फिर नव कन्याओं और पुरोहितों का पूजन दक्षिणा आदि से करती हैं। कोठी मन्दिर से लाटा बावड़ी तक महिलाएं गीत गाती हुई भगवती अम्बिका के नव निमित छत्र (कपड़े पर नक्काशी किए गए बड़े आकार की छत्री) के नीचे चलती हैं। बावड़ी के जल में महिलाएं एक-एक करके प्रवेश करती हैं। वापसी पर कलश सहित जलूस फिर कोठी मन्दिर तक जाता है।

११ सितम्बर को होने वाला कार्यक्रम था 'शिखफेर'। शिखफेर तांत्रिक प्रक्रिया का ही स्वरूप है। आमन्त्रित देवताओं के 'गुर' कोठी मन्दिर में इकट्ठे होते हैं। अपने-अपने देवी-देवताओं के पूजन के पश्चात् देवता गुरों में प्रवेश करते हैं। डरोबू चम्मु देवता का गुर जब चौकी मन्दिर से कोठी के प्रांगण में उतरता है तो वहां उसे कन्धे पर उठा लिया जाता है। बाकि गुर उसके पीछे-पीछे होते है। और फिर होते है वही वाद्य यन्त्रों और ढोल तिरानों वाले। यह सारा जलूस निरमण्ड गांव की सीमा का चक्कर काटता है। कन्धे पर चढ़े गुर के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर पशु बलि (भेड़, बकरा, सुअर आदि) दी जाती है। ताकि प्रेतात्माएं यज्ञ में कोई विघ्न बाधा न डाल सकें। जब ग्राम सीमा की परिक्रमा के पश्चात् गुर और जलूस

वापस कोठी मन्दिर में आता है तो गुर को चौकी मन्दिर की छत पर ले जाया जाता है वहां तांन्त्रिक विधि से हवन होता है और एक बार फिर दो बकरों की बलि दी जाती है। 'शिखफेर' का अर्थ लिया जाता है– बुरी आत्माओं या प्रेतात्माओं से गांव की सुरक्षा।

१२ सितम्बर को होने वाले कार्यक्रम में 'शिवधायन' पूर्णाहुति परशु राम जी की शोभा यज्ञ और ज्याली प्रदर्शन।

चौकी के कमरे से भगवान परशुराम जी की मूर्ति को पूरे सम्मान के साथ दशनामी अखाड़े में लाया जाता है। बस यह अन्तिम रोज होता है। परशु राम जी के दर्शनों का इसी रोज सूर्यास्त से पूर्व ही प्रतिमा को फिर गुफा मदिन्र में बन्द कर दिया जाता है अगामी भुण्डें तक के लिए। इधर मूर्ति दशनामी अखाड़े में लाई जाती है तो उधर दूर गांव के ऊपर ज्याली ढांक (एक पहाड़ी विशेष) पर ज्याली प्रदर्शन होते हैं। भुण्डे का एक मुख्य आकर्षण होता है। ज्याली प्रदर्शन नरवलि का प्रदर्शन, ज्याली प्रदर्शन करने वाले को वेड्डा, वेदा या ज्याई कहा जाता है। भुण्डा के लिए हवन शुरू करने के पश्चात् ज्योतिषियों द्वारा मुहूर्त देखकर ज्याई को यज्ञोपवीत धारण करवाया जाता। उसे एक प्रकार का द्विज बनाया जाता है। पुराने समय में ज्याई वेश्या पुत्र होता था। उसी के वंशज ज्याई का काम करते थे। उसके द्विज बन जाने पर उसे एक टोकरी में रखा जाता था। जहां रह कर वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। और मुहूर्त के अनुसार जंगलों से लाई गई मुंज का रस्सा बांटता है। उसे एक ही समय भोजन करना पड़ता है। उसी रोज से उसके सारे परिवार को मन्दिर की ओर से राशन मिलने लगता है। और वह परिवार से अलग रह कर अपने हाथों रस्सा बनाता है। इस वर्ष रस्सा मात्र १७० गज लम्बा बनाया जा सका था। क्योंकि सूखे के कारण जंगलों में मुंज कम उगी थी। प्रदर्शन के एक रोज पहले या मुहूर्त के अनुसार पहाड़ी की चोटी पर एक खम्बा गाड़ दिया जाता है। और दूर ढलान पर दूसरा खम्बा गाड़ा जाता है। प्रदर्शन से पूर्व ज्याई अपने हाथों से रस्सा खश जाति के लोगों को देता है। जिसे वह अपने कन्धों पर इस तरकीव से उठाते हैं कि रस्से का भाग धरती को न छुए। वाद्य यन्त्रों को बजाते हुए रस्से को लाटा बावड़ी पर ले जाया जाता है। वहां उसे पानी में भिगो दिया जाता है। अच्छी तरह भीगे रस्से को फिर थोड़ी देर पानी से बाहर रखा जाता है। और बाद में वाद्य यन्त्रों की ध्वनि के बीच पहाड़ी की चोटी पर ले जाया जाता है। उधर ज्याई को पुनः कोठी मन्दिर में ले जाया जाता है। मन्दिर में आने से पूर्व वह एक बार अपने घर जा कर स्नान करता है। दूसरी बार उसे कोठी मन्दिर के परांगण में मन्त्र ध्वनियों के बीच स्नान करवाया जाता है। उस पर वैसे ही संकल्प आदि पढ़ें जाते हैं जैसे कि बलि पशु पर पढ़े जाते हैं। बलि पशु के समान ही उस का भी विधिवत पूजन होता है। फिर उसे बकरे पर सवार करवा कर कोठी मन्दिर के मुख्य द्वार तक ले जाया जाता है। वहां से ढांक तक उसे या तो कन्धे पर या वह खुद पैदल चल कर ढांक तक पहुंचता है। रस्से को टोकरी से निकालते वक्त और खम्भे गाड़ते वक्त बलियां दी जाती हैं। रस्से को बलौतर कहा जाता है। पुराने वक्तों पर इसी रस्से पर एक लकड़ी का जीना बनाकर ज्याई को बिठा दिया जाता था। और वह बड़ी तेजी से दूसरे छोर की ओर सरकता था। परन्तु अब मनुष्य के स्थान पर बकरे को

रस्से पर सरकाया जाता है। प्रदर्शन के पूर्व ज्याई की पत्नी को सोने चांदी के गहने देने की प्रथा थी। क्योंकि ज्याली के प्रणान्त का भय तो बना रहता है। इस बार उसे २५१ रुपये तथा वस्त्र आदि दिए गए। ज्याली के स्थान पर जो बकरा रस्से पर सरकाया जाता था वह भी सुरक्षित बच गया था। उधर यह प्रदर्शन चलता है। इधर परशुराम जी की प्रतिभा गुफा मन्दिर में ले जाई जा रही होती है। जैसे ही मूर्ति गुफा मन्दिर में सारे सामान के साथ रख दी जाती है मन्दिर के कपाट अगामी भुण्डे तक के लिए बन्द कर दिए जाते हैं। उसके पश्चात होता है शिव दुयापन। गृहस्थी नाथ सम्प्रदाय के एक व्यक्ति को कोठी मन्दिर के प्रांगण में लाया जाता है। उसका मुंह काला कर दिया जाता है, और फिर उसे मुख्य द्वार से बाहर निकाला जाता है। कुछ व्यक्ति उसके पीछे जलती मशालें लेकर चलते हैं, उस नाथ को दौड़ कर गांव की सीमा से बाहर जाना होता है। इस प्रथा को 'टाले' का नाम दिया जाता है। यह टोना इसलिए जरूरी समझा जाता है ताकि प्रेतात्माएं गांव में न रह सकें।

इस प्रकार समाप्त होता है भुण्डा। कम से कम १२ वर्षों के लिए तो लोगों को प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी अगामी भुण्डे की। उसके बाद राम जाने भुण्डा हो भी सकेगा या नहीं, क्योंकि लाखों रुपये का खर्च होता है। और फिर नई पीढ़ी के लोग भुण्डे की कितनी ही बातों को गए जमाने की रस्में मानने लगे हैं। आज के युग में ऐसी रस्मों की जरूरत ही क्या है। यह प्रश्न उन्हें बार-बार अपने ही सामने खड़ा दिखाई देता है।

6, टाप फ्लोर,
दी माल, शिमला

शोध प्रबन्ध का सार

मेरा शोधप्रबन्ध, लाईप्छिग् (Leipzig) विश्वविद्यालय द्वारा संमत भर्तृहरि के आगमसमुच्चय अथवा वाक्यपदीय ब्रह्मकांड का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद तथा टिप्पणियां

–शान्ति भिक्षु शास्त्री

१. प्रसंगिक चर्चा

१. पूर्ववृत्तान्त :

लाइप्छिग् विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के अध्यापक के रूप में मैंने लगभग तीन वर्ष तक (१९५६-१९५९) सेवा की। आगमसमुच्चय पर कार्य वहीं पर सम्पन्न हुआ। इस कार्य का ढांचा शान्तिनिकेतन में बन चुका था तथा इसकी सम्पूर्णता प्रो० फ्रीड्रिश् वेल्लर के निदेशन में लाइप्छिग् में हुई। १९५९ की गर्मी के अन्त में म्यूनिक में होने वाली इन्टरनेशनल ओरियंटल कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए हम लोगों को जाना था। २७ अगस्त को हमने लाइप्छिग् छोड़ा तथा ३ सितम्बर को फिर वापिस आ गए। म्यूनिक जाने से पहले ही आगससमुच्चय का कार्य मैंने वेल्लर महानुभाव को सौंप दिया था। नवम्बर में उन्होंने मुझे बताया कि आपका कार्य डाक्टर डिग्री के लिए स्वीकृत हो सकता है। पर जर्मनी की परम्परा के अनुसार शोध प्रबन्ध के अतिरिक्त तीन मौखिक परीक्षाएं देनी पड़ेंगी। परीक्षाओं में मार्क्सिस्ट फ़िलोसोफ़ी अनिवार्य विषय रहेगा। संस्कृत यतः प्रधान विषय है, अतः वह भी एक मुख्य परीक्षणीय विषय रहेगा। एक विषय आपको और चुन लेना होगा। मैंने टिबेटोलोजी (भोटविद्या) को चुन कर तीन विषयों की पूर्ति की २५ सितम्बर को अपने शोध कार्य की दो प्रतियां तथा औपचारिक सामग्री लेकर दर्शन विभाग के पीठाधिपति प्रो० मार्टिन को दिखलाने के लिए ले गया। उन्होंने सब सामग्री अपने पास रख ली और कहा कि लगभग दो मास में आपको परीक्षकों का निर्णय मालूम हो जाएगा तब मौखिक परीक्षाओं की व्यवस्था कर दी जाएगी। मेरे शोध कार्य के परीक्षक प्रो० फ्रीडिश वेल्लर तथा प्रो० विल्हेल्म राउ थे। प्रो० वेल्लर ही संस्कृत विषय के मौखिक

*Agamasamuccaya alias Vakyapadiya–Brahmakanda of Bhartihari, Translated and annotaled by SHANTI BHIKSHU SHASTRI. Published in the Wissenschaftliche Zeitschriftder Kart-Marx-Universitary, Leipzig, 12 Jahrgang, 1963, PP. 191-228.

परीक्षक थे। दर्शन के मौखिक परीक्षक प्रो० योसेफ़ श्लाइफ़श्टाइन् थे। टिबेटोलोजी के परीक्षक प्रो० योहान्नेस्शूबेंट थे।

सन् १९५७ देखते-देखते समाप्त हो गया और समाप्त होने से पहले ही मुझे सूचना मिल गई कि मेरा शोध कार्य डाक्टर डिग्री के लिए स्वीकृत हो चुका है। अब जो बातें आगे कहने जा रहा हूं उनका सम्बन्ध १९५९ से है। दर्शन की परीक्षा १६ जनवरी को हुई। मैंने परीक्षक ने मुझे वक्ता की स्थिति में रख कर स्वयं श्रोता का स्थान ग्रहण किया, वे केवल बीच-बीच में प्रश्न कर लिया करते थे। मैंने जो कुछ कहा, उसे उन्होंने बहुत पसन्द किया और मैं सफलता की ओर एक कदम आगे बढ़ गया। २४ जनवरी को संस्कृत विषय में परीक्षा हुई। वेल्लर महोदय ने एक घण्टे से ऊपर मुझे व्यस्त रख कर, सफलता का संकेत देते हुए, मुक्त किया। मेरे भोट भाषा के परीक्षक भारत के प्रवास पर थे। फरवरी १०५९ में वे भारत से लौटे पर घोड़े से गिर कर अपनी पसलियां तोड़कर घर पहुंचे। उन्होंने मुझ पर बहुत अनुकम्पा की। उन्होंने १७ मार्च को मेरी परीक्षा ली तथा सफलता की घोषणा कर दी। वेल्लर महोदय ने यह सब सुन कर अभिनन्दन करते हुए कहा कि एक महत्वपूर्ण कार्य मैंने सफल तथा सुफल कर डाला।

२. प्रतिज्ञा

इसके अन्तर २९ मार्च को ही डीन महोदय (प्रो० मार्टिन) ने आमन्त्रण भेजा तथा व्रत ग्रहण संस्कार सम्पन हुआ। मैं यहां जर्मन भाषा के प्रतिज्ञापत्र का हिन्दी रूपान्तर दे रहा हूं।

लाइप्छिग् कार्लमार्क्स विश्वविद्यालय का शास्त्र-विद्यापीठ मेरे निबन्ध की न्याय्य प्रतियों के समर्पणान्तर मुझे पी०एच०डी० (D.r Phil) की उपाधि प्रदान करने वाला है। फलतः जिन-जिन कर्त्तव्यों का मुझे पालन करना है, उनका मैं निश्छल भाव से पालन करूंगा। अपने शास्त्रीय कार्य तथा अपनी जीवन चर्या में मैं अपनी उपाधि के अनुरूप होने के लिए यत्न करूंगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है। यथा शक्ति सत्यानुसार मेरी प्रवृति रहेगी। विद्या की स्वतन्त्रता और उसकी शिक्षा के लिए, मानवजाति की सुरक्षा के लिए, तथा अखिलजनता के शान्तिपूर्ण सहजीवन के लिए मैं उद्यत रहुंगा। यह मेरा संकल्प है।

लाइप्छिग्
तारीख २९-३-१९५९

हस्ताक्षर
शान्तिभिक्षु शास्त्री
जन्म तारीख २७-१२-१९१२

डीन महोदय ने प्रतिज्ञा पत्र पढ़ कर सुनाया तथा अपनी निज कुर्सी पर मुझ को बिठाकर मुझ से हस्ताक्षर करने को कहा। यह विधिपूर्ण हुई और उन्होंने प्रहर्ष के साथ घोषणा की कि अब आप जर्मन डाक्टर हैं। सो मैं रगड़-झगड़ करते सैंतालीस वर्ष की अवस्था में डाक्टर बना।

शोधविषयक ग्रन्थ तथा उसका प्रेरणता :

संस्कृत भाषा विज्ञान का प्राचीन ग्रन्थ आचार्य भर्तृहरि का वाक्यपदीय है। इसका प्रथम कांड आगमसमुच्चय कहलाता है। इसमें यतः परम्परागत वाग्विद्या के तत्वों का संग्रह किया

गया है, अतः इसे आगमसमुच्चय कहना ठीक ही है। इस प्रकरण में यतः शब्द को ब्रह्म से अभिन्न निरूपित किया गया है अतः इस प्रकरण का नाम ब्रह्मकांड भी है। आगमसमुच्चय के अनुवाद एवं टिप्पणियों में शब्दतत्व के विषय में जो सामग्री संस्कृतवाङमय में जहां-जहां मिल सकी है, उसका संग्रह कर लिया गया है।

भर्तृहरि एक बहुत बड़े वैयाकरण थे। पाणिनि, कात्यायन तथा पंतजलि के अनन्तर व्याकरणों में भर्तृहरि को गिना जाता है। शब्दविद्या के परवर्ती आचार्य वे चाहे ब्राह्मण हों, चाहे जैन हों, चाहे बौद्ध हों सबने बड़े सम्मान के साथ भर्तृहरि को उद्धृत किया है। चीनी यात्री ई-चिङ् ने जो सातवीं शताब्दी के अन्त में भारत आए थे तथा बीस वर्ष से कुछ अधिय समय भारत में विचरण करते रहे थे, भर्तृहरि के विषय में लिखा है कि भर्तृहरि सात बार बौद्ध बन गए थे और सातों बार काषाय छोड़कर गृहस्थ बन गए। वे अपनी कविता में कहते हैं कि **सर्व वस्तु भयान्वितं भुर्वानृणां वैराग्यमेवाभयम्** (धरती पर मनुष्यों के लिए सब वस्तुएं भयभीत करने वाली हैं। केवल वैराग्य ही ऐसा है जहां भय नहीं), तभी यह ही जान पड़ता है, मानो बुद्धवचन का उल्था कर रहे हों। बौद्ध प्रवृतियों को जहां तहां वाक्यपदीय के भीतर से देखा जा सकता है। यह डा० राधाकृष्ण तथा उनके अनुगामियों का मत है। शान्तरक्षित जैसे बौद्धचार्यों ने भर्तृहरि को तीर्थिक (अबौद्ध) मान कर उनके सिद्धान्तों का खडन किया है। जहां तक दर्शन से सम्बन्ध है, भर्तृहरि अद्वैतवादी दार्शनिक हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एक अद्वितिय एवं परम तत्व है। और वह ब्रह्म शब्द से अभिन्न है। यह जगत शब्द से ही विकसित हुआ है, सामान्यतया कहें तो जगत शब्द का **परिणाम** है। पर परिणाम शब्द से सूक्ष्म अभिप्राय व्यक्त नहीं हो पाता। सूक्ष्मता को व्यक्त करने के लिए हमें कहना होगा कि जगत शब्द का **विवंत** है। परिणाम यथार्थ परिवर्तन (True Transformation) पर विवंत परिवर्तन अवश्य है, पर है वह मिथ्या (False Ternsformation)। परिवर्तन में निहित जो अपरिवर्तन तत्व है, वह शब्द है। शब्द जहां एक ओर अभिधान (नाम) है, वहां दूसरी ओर है अभिधेय (Object) यह अभिधेय कहीं भोक्त (Enjoyer) है, कहीं भोक्तव्य है (Object to be enjoyed) और कहीं भोग (Enjoyment) है। शब्दतत्व का नामकरण करते हुए भर्तृहरि ने उसे **ओम** कहा है एवं ब्रह्म माना है तथा उसे परमार्थ बताया है। इस अविद्या के भंवर में जो भेद तथा अभेद दिखाई पड़ता है, उस सब आधार यही शब्द तत्व है। जगत् का भेदाभेद शब्दतत्व से अभिन्न है पर शब्दतत्व जगत् की अभिन्नता में ही समाप्त नहीं होता। वह उससे परे भी है। शब्दतत्व के परत्वभाव का निरूपण विद्या है। वेद विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। यह आधारभूत शब्दतत्व शक्तिमय है। शक्तियों का धनी भूतरूप की यह विश्व है। शक्तियों में काल वह शक्ति है, जिससे विश्व के सब रूपों का विकास होता है (द्रष्टव्य ब्रह्मकांड कारिका १-४)।

शब्दतत्र का निरूपण व्याकरणशास्त्र में होता है। हमारे शब्दतत्व के दार्शनिक भर्तृहरि के अनुसार शब्द वह नहीं है, जो हमें सुनाई पड़ता है। हम अपने कानों से जो सुनते हैं वह **नाद** है। नाद अपने आप में यद्यपि अर्थहीन होता है तो भी वही शब्द के अधिगम का साधन है। नाद पर ही आरूढ़ होकर शब्द हम तक पहुंचता है। शब्द अपने आप में एक अद्वितीयता हैं, पर

नाद से मिश्रित होकर जब अनुभव में आता है तब वह एकातीत हो जाता है, अपनी अद्वितीयता को भुला देता है। अद्वैतभाव से रहित एवं नाद से मिश्रित शब्दतत्व को **वैखरी वाच्** कहते हैं। इस वाणी का आधार वक्ता का मनोभाव होता है, जिसे वह दूसरे पर प्रकट करना चाहता है। यह मनोभावात्मक वाणी **मध्यमावाच्** कहलाती है। वैखरी बहिर्मुखी वाणी है तथा मध्यमा अन्तर्मुखी वाणी है। बोलने एवं सुनने की क्रिया में बहिर्मुखी वाणी का साक्षात्कार होता है—वैखरी का प्रत्यक्ष होता है। जपकाल में अन्तर्मुखी वाणी का साक्षात्कार होता है—मध्यमा का प्रत्यक्ष होता है। एक व्यक्ति जब अपनी बात दूसरे से कहना चाहता है, तब वह अन्तर्मुखी वाणी को ही बहिर्मुखी वाणी के माध्यम से प्रकट करता है। इस प्रकटीकरण में मुखगत स्थान, मुखगत करण तथा बाह्य एवं अभ्यन्तर प्रयत्न अपने व्यापार द्वारा सहायक होते हैं। अन्तर्मुखी वाणी अर्थ की अभिव्यंजक होती है और इसीलिए उसे **स्फोट** कहते हैं-सफुटित-अर्थो-अनेन यह उसकी व्युत्पत्ति है। वक्ता जब बोलता है तब अन्तर्मुखी वाणी का प्रथम स्थान होता है अर्थात् स्फोट आरम्भिक बिन्दु होता है। यह सूक्ष्म तत्व स्फोट स्थूल हो कर, नाद से मिश्रत होकर, बहिर्मुखी वाणी में बदल जाता है। पर श्रोता की स्थिति में बहिर्मुखी वाणी का प्रथम स्थान होता है, यह स्थूलवाणी अन्तर्मुखी वाणी में सूक्ष्म होकर विलीन हो जाती है, स्फोटतत्व में परिणत हो जाती है। दोनों अवस्थाओं में अर्थबोधन की दृष्टि से विचार, भाव, अभिप्राय अथवा तात्पर्य ही स्फोटनामक शब्द तत्व का मूलाधार है। वाणी का एक और भी सुक्ष्म रूप है, जिसे **पश्यन्ती वाच्** कहा जाता है। इसका योगियों को उस समाधि में साक्षात्कार होता है, जिसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं, तथा जिसमें वितर्क (स्थूल मनोजल्प) बिचार (सूक्ष्ममनोजल्प) प्रीति, सुख, समाहितता (एकाग्रता) आदि चित्तवृत्तियां भी नहीं रहती हैं। इस पश्यन्ति से भी परे परम् सूक्ष्म **पराबाच्** होती है। इसका साक्षात्कार योगियों को असंप्रज्ञात समाधि में होता है, जिसमें वितर्कादि चित्तवृत्तियां भी नहीं रहती हैं। यही परावाच् विश्व का उपादान है तथा भर्तृहरि ने आगमसमुच्चय की प्रथम कारिका में अनादिनिधन ब्रह्म (आदि एवं अन्त रहित ब्रह्म) कहा है। स्फोटतत्व इस परावाच् से अभिन्न होता है, अतः वह भी ब्रह्म ही है। स्फोटतत्व ही व्याकरण का विषय है, जो अपने अनुभव योग्य स्वरूप से **वाक्य** है तथा जिसकी अर्थबोधकता निर्विवाद है। वाक्य संख्यातीत है। इस असंख्येय तत्व का पदों में, पदों को फिर प्रकृति एवं प्रत्ययों में विभक्त करके, निरूपण करना व्याकरणों का अविष्कार है। इस प्रक्रिया में स्फोट तथा नाद को अलग कर, तथा उन दोनों से सम्बद्ध मतवादों पर ऊहापोह करते हुए, भर्तृहरि ने आगमसमुच्चय नामक व्याकरण-स्मृति का निर्माण किया है, जो वस्तुतः व्याकरण दर्शन का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

२. भर्तृहरि का दार्शनिक निबन्धन

१. वाणी के दो पक्ष

शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों के प्रवर्तकों ने शब्द का आधार प्राणवायु को मान कर उसके भौतिक पक्ष की व्याख्या की थी। उच्चारण की गई ध्वनि को ही शब्द मान कर उन्होंने

अपने-अपने शास्त्र का प्रवर्तन किया था। शब्द के पीछे मनोभाव का जो व्यापार निरन्तर चलता रहता है उसके सम्बन्ध में उनकी धारणाएं सम्भवतः स्पष्ट नहीं थीं, अतएव उन्होंने उनकी चर्चा नहीं की है।

पतंजलि ने शब्द के पीछे सतत कर्मण्य मनोभावात्मक तत्व को लक्षित किया अतः उनकी दृष्टि में शब्द एक ओर जहां प्राणवायु पर आश्रित भौतिक तत्व है, वहां दूसरी ओर मनोभाव पर आश्रित वह मानसिक तत्व भी है। पतंजलि ने शब्द के भौतिक पक्ष को ध्वनि कहा है, तथा मानसिकता को स्फोट कहा है। पतंजलि के अनुसार ध्वनि वस्तुतः शब्दगुण है तथा स्फोट परमार्थतः शब्द है। स्फोट के सिद्धान्त ने आचार्यों के बहुत कुछ तत्वचिन्तन पर विवश किया। इस चिन्तन का फल यह हुआ कि ज्ञान को—बोधका ध्वनि का आधार मान लिया गया। भर्तृहरि से पूर्व स्फोट तथा ध्वनि की अस्पष्ट धारणा बनी हुई थी। कार्य-कारणभाव की दृष्टि से सोचने पर स्फोट कारण का स्थान लेता है, तथा ध्वनि को कार्य कहना निर्विवाद हो जाता है।

२. ध्वनि के दो रूप

ध्वनि के पीछे मनोभावात्मक स्फोटतत्व अपना कार्य करता रहता है। स्फोटात्मक शब्द मनोमय होते हैं। उनमें भौतिक मात्रा का संसर्ग नहीं होता। पर शब्द जब ध्वनि की आकृति ग्रहण करते हैं, तब उनमें भौतिकमात्राओं का मिश्रण हो जाता है। उन्हें ह्रस्व कह कर एक मात्रा के द्वारा मापा जाता है। उन्हें दीर्घ कह कर, उनका परिमाण दो मात्राओं को माना जाता है। कभी यह परिमाण तीन मात्राओं का भी हो जाता है। त्रिमात्रिक ध्वनिमय शब्द प्लुत कहलाता है। पर स्फोटमय शब्द में मात्राओं का यह तारतम्य नहीं होता। मात्राओं से मापी गई ध्वनि प्राकृत ध्वनि कहलाती है। प्राकृत ध्वनियां बोलने वाले के कंठव्यापार के कारण रूपान्तरित हो जाती हैं। कोई ध्वनि शीघ्र गति की, कोई विलम्बित गति की तथा कोई अशीघ्र एवं अविलम्बित गति की सुनाई पड़ती। ध्वनियों में यह जो गतिभेद लक्षित होता है, उसका सम्बन्ध प्राकृत ध्वनि से होता है, मनोभावात्मक स्फोट शब्द से वह गति असंपृक्त रहती है। फलतः शब्दविद्या के निरूपण में उसका स्थान गौण समझा जाता है।

३. वाणी के वक्ता तथा श्रोता

एक ही वाणी की दो कोटियां या दो किनारे हैं। एक कोटि मनोभावात्मक शब्दतत्व स्फोट है। दूसरी कोटि ध्वनि अथवा नाद है। वक्ता में भाषण क्रिया की प्रथम कोटि स्फोट है तथा चरम कोटी नाद है। श्रोता में श्रवणक्रिया की प्रथम कोटि नाद होती है तथा चरम कोटि स्फोट होती है। भाषण में तथा श्रवण में भौतिक तथा मानसिक व्यापारों की एक परम्परा रहती है। चिन्तन, भाषण, श्रवण तथा बोधन की क्रियाएं यथा अवसर प्रवृत्त रहती हैं। उत्तम-पुरुष अपनी बात अपने मनोभावात्मक स्फोट–शब्दों के माध्यम से सोचता है। एवं अपनी सोची हुई बात को मध्यम पुरुष पर प्रकट करना चाहता है। इस अवसर पर उत्तम पुरुष के मनोमय-स्फोटशब्द ध्वनि या नाद में बदल जाते हैं तथा श्रवणाश्रुतियों के रूप में मध्यम पुरुष के कानों के द्वारा अनुभवगोचर हो जाते हैं। इतना हो चुकने पर मध्यम पुरुष श्रुतियों के पीछे जो मनोभाव

होता है, उसका अधिगम कर लेता है तथा बहिर्मुखी नादाख्य ध्वनि अन्तर्मुखी स्फोटाख्य शब्दतत्व में परिणत हो जाती है (ब्रह्मकांड, कारिका, ४४, ४६, ४७)।

४. स्फोटाख्य शब्दतत्व का अद्वितीय व्यक्तित्व

स्फोट एवं नाद तथा उनके स्वाभाविक सम्बन्ध को समझने के लिए विभिन्न दार्शनिक पक्षों पर ऊहापोह करना बहुत आवश्यक है। नादमय अथवा ध्वनिमय शब्दों की मनोनिहित विचार धारा के प्रकाशन की क्षमता को सब लोग जानते हैं। शब्दविद्या के दर्शन में विचार को प्रकाशित करने का अर्थ **नाद के द्वारा** स्फोट की व्यंजना करना है। स्फोट का साक्षात्कार विशेष ध्वनियों की सहायता से ही सम्भव हो पाता है। ध्वनियों के साथ स्फोट का संश्लेषण यदि न होता तो वे केवल निरर्थक चिल्लाहट ही होतीं। स्फोट तथा नाद (ध्वनि) के इस सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए कितने ही शब्दतत्त्वज्ञों ने स्फोट को एक जातितत्त्व माना है, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक व्यक्ति रूपी ध्वनितत्त्वों से होती है। जैसे अनेक गो-व्यक्तियों से एक गोत्व-जाति की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही अनेक ध्वनिव्यक्तियों से एक स्फोट-जाति की अभिव्वक्ति होती है। पर भर्तृहरि के सिद्धन्तानुसार अनेक गो-व्यक्तियों में एक गोत्व-जाति की कल्पना की भान्ति अनेक ध्वनिव्यक्तियों के भीतर एक स्फोट-जाति की कल्पना करना ठीक नहीं है। उनके अनुमार ध्वनियां नाना प्रकार की शब्दकृतियां हैं पर स्फोट ध्वनियों से अभिव्यक्त होता हुआ भी एक आकार-प्रकार से परे का तत्त्व है। वह एक एवं अद्वितीय तत्त्व है। उसे जाति तथा व्यक्ति प्रपंच में बांधा नहीं जा सकता। वह अपने आप में एक एवं अद्वितीय तत्त्व है। वह व्यक्तियों की एक इकाई नहीं है पर उसे एक तथा अद्वितीय व्यक्ति, एकमात्र परमार्थ व्यक्ति कहा जा सकता है (ब्रह्मकांड, कारिका ९३, ९४, ११९)।

५. स्फोटाख्य-शब्द की अखण्डता

भर्तृहरि से पहले स्फोट तथा नाद को दो परस्पर भिन्न तत्त्वों के रूप में माना जाता था। व्यवहार में आज भी वैसा ही मानकर प्रायः काम चला लिया जाता है। पर कितने विचारक दोनों को नाद तथा स्फोट तत्त्वों को परस्पर भिन्न नहीं मानते थे। उनके अनुसार बुद्धिगत व्यापार यत: अनेक रूपों में प्रचारित होते रहते हैं। अत: जल तरंगों में अनेक चन्द्रप्रतिबिम्बों की भान्ति स्फोट एक होते हुए भी ध्वनि तरंगों में अनेकात्मक जान पड़ता है। भर्तृहरि ने इस एकानेकमतवाद को पीछे ढकेल दिया। उसके अनुसार स्फोट एक एवं अभाज्य तत्त्व है, उसे खंड-खंड करके नहीं देखा जा सकता है। भेदुबुद्धि का वह विषय नहीं बनाया जा सकता (ब्रह्मकांड, कारिका ४५, ४७, ४९)।

६. स्फोट, तथा कारण कार्य

भर्तृहरि ने ब्रह्मकांड की पहली कारिका में ही शब्दतत्त्व स्फोट को ब्रह्म से अभिन्न माना है। ब्रह्माभिन्न स्फोट कार्यकारणमावातीत एक परमार्थ तत्त्व है। कार्य-कारणभाव की कल्पना का सम्बन्ध इस परिवर्तनशील विश्व के साथ है। विश्व क्षण-क्षण बदलता रहता है। इस परिवर्तन के प्रवाह में हेतु-प्रत्यय के विषय के साथ कार्यकारणभाव के सम्बन्ध की स्थापना

करना सम्भव हो सकता है। स्फोट की ब्रह्माभिन्नता उसे कार्यकारणभाव से पृथक कर एक व्यावहारतीत तत्त्व के रूप में उपस्थित करती है। भर्तृहरि इस सिद्धांत से सहमत होकर अपने दार्शनिक मत को प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार शब्दतत्त्व परमार्थ रूप में समूचे व्यावहारिक जगत् का आधार है। व्यावहारिक जगत् पारमार्थिक शब्दतत्त्व का विवर्त है। यह पारमार्थिक शब्द तत्त्व स्फोट तब अनुभव में आता है, जब हम वाग्व्यावहार में प्रवृत्त होते हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन में स्फोट मानसारूड रखता है। यह कारण बनता है। श्रुतियां अर्थात श्रवणाई शब्द इसके कार्य बनते हैं। गूढ़ तत्त्व इस प्रकार अगूढ़ तत्त्व बनता है। स्वानुभूत तत्त्व यों सर्वानुभूत तत्त्व बन जाता है। उदाहरण से स्पष्ट करें तो यों कहना होगा। स्फोट मन में गूढ़ रहता है, ठीक उस प्रकार से, जैसे अग्नि अरणि काष्ठ में गूढ़ रहती है। स्फोट से श्रवनार्ह नाद उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार से, जैसे अरणि-मन्थन से अग्नि उत्पन्न होकर काष्ठों को दहन करने लगती है। तथा लोगों का पाक आदि कार्य चलने लगता है (ब्रह्मकांड, कारिका ४४, ४६)।

७. स्फोट तथा नाद की वाग्व्यावहार में सर्वत्रगता

नाद के रूप में हमें वाक्य, पद, तथा वर्ण श्रवणगोचर होते हैं। इनमें वर्णों के द्वारा प्रकृति प्रत्यय तथा उपसर्ग के स्वरूप को रख कर वैयाकरण पदों की निष्पन्न कर अपने शास्त्र को प्रस्तुत करते हैं। व्यावहारिक व्यक्ति ही नहीं वैयाकरण भी अपने-अपने व्यवहार काल में वाक्य को ही अखण्ड शब्द मान कर अपना काम चलाता है। पर इस प्रक्रिया में नाद के पीछे स्फोट विद्यमान रहता है। वाक्य एक नाद है, उसके पीछे एक वाक्य स्फोट कार्य करता रहता है। पद तथा वर्ण भी नाद है पर उनके पीछे भी पद-स्फोट एवं वर्ण-स्फोट की सत्ता रहती है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की शैली में कहें तो जहां कहीं बहिर्मुखी श्रवणाई वाणी होती है, वहां सर्वत्र अन्तर्मुखी मनोनिष्ठवाणी भी रहती है। आज जो कुछ वाणी को लेकर कहा जाता है। उसे भर्तृहरि ने कई शताब्दियों के पहले कहा था।

मेरा शोध कार्य

लेखक डा० गंगादत्त शास्त्री एम०ए० (डबल) पी एच०डी० वेदाचार्य साहित्य रत्न।
प्रिंसिपल हिमाचल सरस्वती संस्कृत कालेज जांगला-रोहड़ (शिमला)

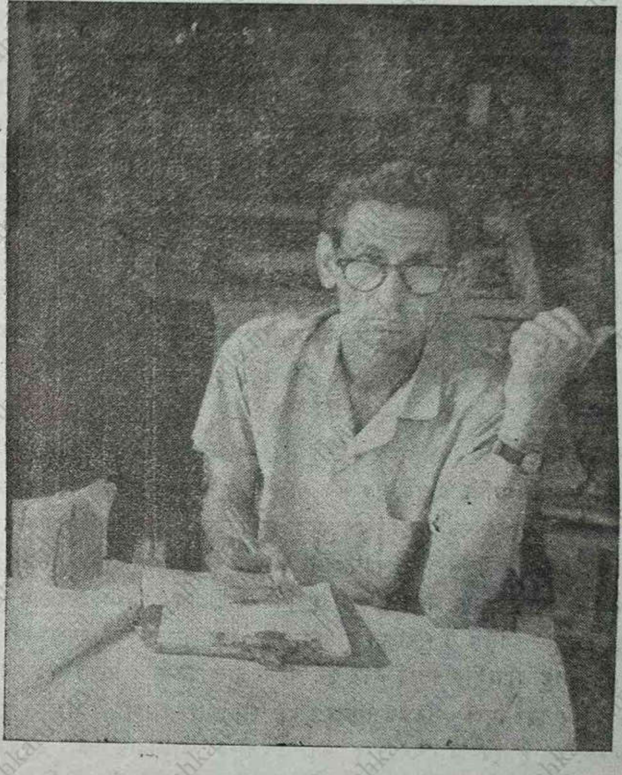

मेरे शोध प्रबन्ध के विषयभूत महाकाव्य रघुनाथ गुणोदय की रचना सम्वत् १९३८ के लगभग हुई। रचनाकार के महाकवि चण्डीदास जो हरियाणा प्रदेश के अन्तर्गत पुण्डुरी नामक गांव में (सन् १८०५-१८८५ के लगभग का जीवन समय) जन्मे थे इनकी संक्षिप्त जीवनी इस प्रकार है—किशोरावस्था की समाप्ति तक कैथल नरेश के राज गुरू पं० शिव प्रसाद से व्याकरण वेदान्त की शिक्षा पूर्ण करके अग्रिम अध्ययन के लिए काशी गए, वहां षड्दर्शनों का अध्ययन तथा ज्योतिष-कर्मकाण्ड एवञ्च पौराणिक शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् हरियाणा में आकर क्रमशः कैथल नरेश पंजाब नरेश महाराजा रणजीत सिंह, पटियाला नरेश, जयपुर नरेश के दरबारों में प्रतिष्ठा पाकर

1. पब्लिक लाईब्रेरी पटियाला में ये रचनाएं सुरक्षित है। यह सब अब भी मेरे पास सुरक्षित हैं।

अन्त में जम्मू कश्मीर नरेश के दरबार में आकर राज सन्मान के साथ साहित्य-सृजन में जुट गए। इसके पूर्व भी कवि ने कुछ रचनाओं की सृष्टि की थी[1] किन्तु जम्मू कश्मीर नरेश के दरबार में पहुंचकर ही इन्हें साहित्य लेखन की विशाल भूमिका और सुविधाएं मिली। वास्तव में कवि के लेखन का यह स्वर्णिम काल था जो ३० वर्षों तक चला। इसके अन्तर्गत इन्होंने संस्कृत साहित्य का पर्याप्त निर्माण किया, जिसका कुछ ही अश सन् १९६७ में पी एच० डी० के शोध प्रबन्ध के लिए गवेषण करते हुए मुझे कवि के घर से प्राप्त हुआ। यद्यपि यह अंश लगभग एक सौ पच्चीस वर्षों के व्यवधान के अन्तर्गत आकर अत्यन्त स्वल्प रह गया था तथापि इससे मेरी प्रयोजन सिद्धि हुई। यह अवशिष्ट भागमुझे दो छोटे बण्डलों में मिला। एक में कवि का फुटकल साहित्य था। जिस में कवि का व्यक्तिगत पत्राचार फुटकल प्रशस्तियां सभाओं में पढ़ने के लिए विभिन्न शास्त्रीय विषयों पर लिखे गए लघु शोध निबन्ध, व्यावस्था लेख आदि थे। इसके अतिरिक्त अन्य छोटी-छोटी लिपियों में समयानुसार उठने वाली कल्पनाओं से ओत-प्रोत लिखे अक सस्कृत पद्य अधिक अधिक संख्या में मिले। (प्रति कागज पर एक या दो अथवा इससे अधिक संस्कृत पद्य) ये स्लिपें भी संख्या में ५०-६० से कम नहीं थी।

दूसरे बण्डल में कवि की संस्कृत-पद्य रचनाएं काव्यों और लघु काव्यों में मिलीं। इसी में समान्य घरेलू आय-व्यय की कुछ डायरियां भी मिलीं। इन सब को मिलाकर एक अच्छी खासी सामग्री मेरे पास जुट गई।

महाकाव्य पर शोध कार्य

उपर्युक्त सामग्री प्राप्ति के पूर्व जब मैंने शोध कार्य के लिए उचित विषय पर चिन्तन करना प्रारम्भ किया तो एकाएक रघुनाथ मन्दिर जम्मू के संस्कृत के प्राचीन पुस्तकालय में बैठे-बैठे और मि० स्टाईन रचित कैटेलॉग[1] देखते-देखते महाकाव्य की पाण्डुलिपि पर मेरी दृष्टि पड़ी। मैंने इस विवरण को ध्यान से पढ़ा तो पता चला कि महाकवि चण्डीदास रचित रघुनाथ गुणोदय महाकाव्य दो पाण्डुलिपियां इस पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। तत्काल मैंने पुस्तकालयाध्यक्ष श्री रामकृष्ण शास्त्री से कह कर प्रस्तुत पाण्डुलिपि निकलवाई और इसे पढ़ना शुरू किया। आद्योपान्त पढ़ लेने के पश्चात् मुझे इस महाकाव्य का पूर्ण परिचय मिला। वह रचना तेरह सर्गों में समाप्त हुई है। कथा वस्तु रामचरित्र से सम्बन्धित है एवञ्च रचनाकार का उपजीव्य कालिदास का रघुवंश है। प्रतिसर्ग के अन्त में एक नपा तुला परिचयात्मक विवरण दिया गया है, जिसमें निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं—कवि चण्डीदास कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत पुण्डरीकपुर निवासी। वे जम्मू कश्मीर नरेश के दरबार में आश्रय ग्रहण किए हुए थे। काव्य का सम्यक् पर्यालोचन के पश्चात् इसी पर शोध करने का मेरा बिचार दृढ़ हो गया और मैंने पी एच०डी० की उपाधि के लिए आवेदन पत्र भर दिया। जम्मू कश्मीर विश्व विद्यालय से मुझे जल्दी पंजीकरण (Registrations) भी मिल

1. इस पुस्तकालय में पड़े प्राचीन हस्तलेखों की सूची तैयार करने के लिए १८९४ ई० में मि० स्टाईन जो बुलाया गया था उन्होंने इस कैटेलाग का निर्माण किया, जो इस समय सं० पाण्डु-लिपियों के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है।

गया किन्तु कवि के जीवनी अध्याय में क्या लिखूं यह मेरे आगे ज्वलन्त समस्या थी। क्योंकि इस महाकवि की न कोई रचना छपकर प्रकाश में आई थी न कोई साहित्य क्षेत्र में इनके नाम से परिचित था। फिर इन पर कुछ भी लिखित सामग्री न होने के कारण उक्त अध्याय की सामग्री कैसे संजो पाऊं। यह बात सोचते ही मेरा माथा ठनकने लगा। इस समस्या पर बहुत दिनों तक मैंने बिचार किया। इधर जो विषय सूची (Snopses) स्वीकृत हुई थी, उसमें जीवनी अध्याय के अधिक खण्ड रख दिए गए थे जैसे—जन्म समय, जन्म स्थान, बाल्यावस्था, अध्ययन, युवावस्था विधिध राजदरबारों में आश्रय, पारिवारिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, पाण्डित्य, स्वभाव आदि। इन पहलुओं पर कैसे विस्तृत लिखा जा सकता था जबकि कवि के बारे में केवल इतना ही मिला कि ये पुण्डरीक पुर निवासी, सवाल जातिय और महाराज रणवीर सिंह के आश्रित।

अचानक मेरे मस्तिष्क में एक युक्ति सूझी कि क्यों नहीं कुरुक्षेत्र के पास पुण्डरीपुर स्थान का पता लगाया जाए। हो सकता है कि कवि के घर में कुछ पिछली सुरक्षित सामग्री मिल जाए। पुण्डरीकपुर के स्थान पर इसे लोग पुणुरी कहते हैं। मैं शीघ्र ही वहां पहुंच गया। पता चला कि सवाल ब्राह्मणों का यहां एक ही घर है। वहां अब वृद्ध मामराज उसकी पत्नी गिन्नी देवी तथा उनके दो पुत्र हैं उनके घर में गया मामराज जी और गिन्नी देवी उस समय घर में थे। मैंने अपना परिचय देकर उनसे प्रार्थना की कि कवि जी का कुछ पिछला रिकार्ड रखा गया हो तो कृपया मुझे बतलाएं। साथ ही यह भी कहा कि मैं उन पर खोज कर रहा हूं एवञ्च शोध प्रबन्ध तैयार कर रहा हुं। सुनकर दोनों वृद्ध दम्पती अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने मुझे पुराने बक्से से दो बस्ते निकाल कर देते हुए कहा बस इतना कुछ ही हम आज तक (१००-१५० वर्षों का रिकार्ड) सुरक्षित कर पाए हैं अधिक सामग्री तो समय-समय पर नष्ट होती गई।

इसी सामग्री के आधार पर मैंने लिखना शुरू किया। इस में कवि की १२-१३ संस्कृत पद्य मय रचनाएं व्यक्तिगत डायरियां पत्र, आय व्यौरे तथा अपने सम्बन्ध के कुछ विवरण थे। जिनका कई महीनों तक अध्ययन करके मैंने कवि की जीवनी पर तथ्य इकट्ठे किए जो अधिक प्रमाणिक थे। उनके आधार पर मैं जीवनी अध्ययन लिख सका। जहां-जहां आवश्यकता पड़ी कवि के सम्बन्धित लोगों की फोटोस्टेट्स कापियां करवा कर थीसिस के साथ जोड़ दी। जो कवि द्वारा ही लिखे थे। प्रत्येक भाग को संस्कृत श्लोकों के प्रमाणों द्वारा भली-भांति पुष्ट किया।

अनुसंधान एक ऐसा कार्य है जिसके अन्तर्गत इतनी सामग्री और इतनी तथ्य एक स्थान से मिल जाने पर भी अन्यत्र की खोज भी उन्हीं पर करनी पड़ती हैं ताकि सम्बन्धित तथ्य और कही से भी मिलें, कोई तथ्य कहीं भी पड़ा हुआ छूट न पाए। इसी कारण मुझे कवि की जीवनी की यद्यपि पर्याप्त सामग्री मिल गई थी। उससे आपेक्षित तथ्य भी पर्याप्त थे तथापि एक-एक तथ्य को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने के लिए जहां-जहां कवि जी रहे थे। वहां-वहां की यात्राएं मुझे करनी पड़ी। तथा नए-नए तथ्यों को अधिक खोजना पड़ा। इस सम्बन्ध में हिसार, रोहतक हिसार, कैथल कुरुक्षेत्र आदि। नगरों में घूमा, काफी खोज की, कुछ मिला भी। कवि की उपलब्ध सामग्री के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चूका था कि वे कैथल, पटियाला, पंजाब और जयपुर के राज-दरबारों में रहकर अन्त में जम्मू-काशमीर के आश्रित हुए थे। इसी कारण उपर्युक्त सब नगरों में जाकर

कवि के सम्बन्ध में अनुसन्धातिक खोज करनी मेरे लिए आवश्यक हो गई। मैं एक-एक करके इन स्थानों पर गया। जयपुर जाकर मैंने खोज शुरू की। संस्कृत प्रतिष्टानों में गया। वहां के संस्कृत विद्वानों से मिला कवि के सम्बन्ध में लोक-वार्तायें प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यद्यपि शोध के साथ इनका कोई सीधा सम्बन्ध न था तो भी कुछ वैचारिक पृष्ठ भूमि बनाने के लिए इस प्रकार की सामग्री को भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता था। जयपुर जाकर मैंने मुख्य रूप से इन संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित किया। तथा वहां से उपलब्ध हस्तलेखों का अध्ययन किया। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होने की आशा थी कि रघुनाथ गुणोंदय महाकाव्य की पाण्डुलिपि जम्मू पुस्तकालयय के अतिरिक्त और भी कहीं सुरक्षित रहनी चाहिए। एवञ्च इन्हीं सुचियों में ही कवि चण्डीदास का नाम अथवा उनकी रचना भी मिल सकती है किन्तु इस सब अध्ययन के अन्नतर मुझे निराशा ही हुई। कवि अथवा उन की रलना रघुनाथ गुणोद्य या अन्य के वारे में कुछ भी लिखा हुआ नहीं मिला। अधीत सूचियों के नाम नीचे दिए जा रहे हैं।

1. A catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS. in the Rajsthan aricental research Institule Jaipur.
2. राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला (सम्पादक श्री जैन विजय मुर्ति–संचालक राजस्थान प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान)।
3. Jodhpur collection of Sanskrit MSS.
4. विद्याभूषण ग्रथ संग्रह सूचि।
5. महाराजा पोथी खाना (प्राचीन संस्कृत रचनाओं का शाही भण्डार)।
6. राजस्थान पुरातत्व विभाग की विशेष पाण्डुलिपियों का अध्ययन।
7. टोन एरिया कमेटी पुस्तकालय।

अध्ययन के दूसरे दौर में मैंने जयपुर के कवियों और विद्वानों द्वारा रचित साहित्य भी पढ़ा जो कवि चण्डीदास के जयपुर राजांकित होने के पश्चात् लिखा गया था। इस में कहीं न कहीं कवि के बारे स्मरण उपलब्ध होने की मुझे पूर्ण आशा थी। कवि जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह द्वितीय (१८३५-१८८० ई०) के दरवार में आते जाते थे। किन्तु यह सब पढ़ लेने के अनन्तर मुझे निराशा ही हुई। कवि के बारे में कहीं भी कोई जिक्र नहीं मिला। फिर मैं राजस्थान के बर्तमान संस्कृत विद्वानों से एक एक करके मिला उनसे कवि के सम्बन्ध में पूछा किन्तु किसी को इस बारे में कोई ज्ञान न था। इसके पहले जब मैं हरियाणा में था तो कई विद्वानों ने मुझे कवि चण्डीदास के अनेक संस्मरण सुनाए जो उन्होंने अपने पूर्वजों से सुने थे। राजस्थान का स्थानीय संस्कृत साहित्य जिसका मैंने पूरा अध्ययन किया इस प्रकार है:

१. पं० नारायण भट्ट के दो काव्य जयवंश तथा नृपविलास।
२. जयवंश महाकाव्य लेखक प० सीताराम कवि।
३. जयपुर विलास-श्री कृष्ण राम रचित।
४. जयपुर वैभवम् यह श्री मथुरानाथ शास्त्री साहित्याचार्य।